योग पर सन्तोष प्रकट करते हुए मुझे आगे बढ़ने के लिये और उत्साहित किया। इसी प्रकार यद्यपि अनुवाद करने में काफी समय और धैर्य की जरूरत थी, फिर भी मैं उपयुक्त महानुभावों के आदेश का पालन चित्त लगाकर करता रहा। मेरा विचार था कि मैं स्वामी जी के सब भाषणों का अनुवाद कर डालूँ, पर, चूँकि मैं एक गरीब लेखक ठहरा, पेट का प्रश्न हल करने के लिये जिस तिस पत्र का द्वार खटखटाना पड़ा, और वहाँ फिर इतना अवसर कहाँ, जो अनुवाद करने के लिये मौका मिल सके। काम अधूरा रह गया।

यहाँ यह भी लिख देना शायद अतिशयोक्ति नहीं हो सकती कि प्रसिद्ध पत्रकार भाई नन्दकिशोर जी तिवारी के उत्साह भरे शब्दों ने एकबार मुझे जोर से आगे बढ़ाया था। 'चाँद' के वे उस समय संपादक थे। पं० भुवनेश्वरनाथ मिश्र, जो उस समय 'चाँद' के संपादक थे—किसी कारणवश संपादक में अपना नाम नहीं देना चाहते थे। ठीक उसी समय भाई तिवारी जी ने मुझे अर्जेन्ट पत्र लिखकर बुलाया और 'चाँद' का संपादन भार वहन करने के लिये कहा। मैं उसकी नीति से सहमत नहीं हुआ, इसीलिये संपादकी स्वीकार करने से असमर्थ रहा। पर उस समय उन्होंने एक बहुत ही सुन्दर उपदेश

दिया, और वह उपदेश यही था—"मनुष्य को अपने ऊपर पूर्ण विश्वास करना चाहिये और कठिन से कठिन काम को भी चुटकी में मसल देने की हिम्मत रखनी चाहिये।" यद्यपि उन्होंने मेरे अनुवाद के लिये उपदेश नहीं दिया था, तथापि मैं उसके अनुवाद करने पर ही दृढ़ रहा। और लौटते समय गाड़ी में यही सोचता रहा कि अवश्य ही स्वामी जी के भाषणों का संपूर्ण अनुवाद कर डालूँ। घर पहुँचते ही काम लगा दिया। 'कर्मयोग' का बाकी अंश समाप्त किया और "आत्मा अविनाशी है" को भी उसी द्रुतवेग से पूरा किया। पर, हठात् मुझे कुछ ऐसे घरेलू झंझटों में पड़ जाना पड़ा कि सारी स्कीम पड़ी रह गयी, और मैं फिर किसी भी भाषण का आगे अनुवाद करने में बिलकुल असमर्थ हो गया। अब केवल उनके अंग्रेजी भाषणों को पढ़-पढ़कर ही संतोष कर लेना पड़ा।

मुझे एक शब्द प्रकाशक के प्रति कहने में हिचक नहीं मालूम होती कि चौधरी एन्ड सन्स, काशी के अध्यक्ष श्रीयुत कुबेरसिंहजी ने मेरे इस अनुवाद को प्रकाशित कर बहुत ही कृपा दिखाई है। नहीं तो, मुझे कुछ प्रकाशकों की नीति देखकर यही कहना पड़ता था कि शायद उपन्यास के सामने इन पुस्तकों का कोई प्रकाशक ही नहीं मिलेगा। मुझे दुख हुआ कि जब तक भारतवर्ष के अन्दर कूड़ा करकट

में फेंक देने वाले उपन्यासों के प्रकाशन की नीति दूर नहीं होगी, तब तक लोगों की रुचि अच्छे और उपदेशप्रद ग्रंथों को पढ़ने की नहीं हो सकती। मैं ऐसे सुधार एवं सत्संगति प्रेमी, प्रकाशक सिंहजी को अवश्य ही धन्यवाद दूँगा।

अन्त में मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि यदि उपर्युक्त सज्जन मुझे उत्साहित नहीं करते तो मैं स्वामीजी के भाषणों का कभी भी अनुवाद नहीं कर पाता। इसलिये मैं उन महानुभावों का चिर-ऋणी हूँ। हाँ पंडित गया प्रसाद ज्योतिषी एम० ए० का भी नाम नहीं भूल सकता, जिन्होंने मुझे काफी उत्साहित किया था।

अंत में मैं विहार प्रकाशन भवन, आरा के जेनरल मैनेजर और कहानी लेखक श्रीवृन्दावन विहारी को भी धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता जिन्होंने मुझे उत्साहित ही नहीं किया, बल्कि शीघ्र ही इसे प्रकाशित करने का वचन भी दिया था।

मैं अपने पाठकों तथा स्वामीजी के भाषणों से प्रेम रखने वाले सज्जनों से निवेदन करूँगा कि वे इस अनुवाद को ध्यान से पढ़ें और जो कुछ इसमें त्रुटि हो; उसके लिये क्षमा करते हुए, मुझे बताने की कृपा करेंगे, जिसमें दूसरे संस्करण में उसका सुधार हो जाय।

—अनुवादक

मध्ये अनन्त-समानता प्रधावित होती है। हमें इसे स्वीकार करना पड़ेगा। मैं तो इस एक ज्ञान को सब ज्ञानों से उत्तम एवं महणीय सकझता हूँ। उस देश में जो धार्मिक सम्प्रदायों का विशाल केन्द्र है, प्रत्येक धर्मज्ञानी-सौभाग्य या दुर्भाग्य से,अपने धर्म दत्तों को भेजने की लालसा रखता है। मैं अपने शैशवकाल से ही संसार के विभिन्न सम्प्रदायों से परिचत हूं। नौर-मन लोग भारतवर्ष में पहुँचे, और अपने उपदेशों को सुनाये। "उनकी पूजा करो।" इसी अपवित्र आधार पर उनका धार्मिक उपदेश निर्भर है। वहां उनका अस्तित्व और देशों से कहीं विशाल है। यदि तुम हिन्दुओं को राजनीति का पाठ पढ़ाना चाहो, शायद असम्भव हो जाय; पर धर्म के नाम पर-चाहे वह हानिप्रद ही क्यों न हो—तुम्हें हजारों अनुयायी मिल जायेंगे। सम्भव है, जीवनकाल में ही तुम "जीवित-देव" के नाम से सम्बोधित होने लगोगे। मैं इसपर खुश होता हूं। भारतवर्ष में एक ही वस्तु है, जिसे हम चाहते हैं। वह है धर्म! हिन्दू विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त हैं; उनकी संख्या असीम है, फिर भी वे अपने को विभिन्न धर्मों के अनुयायी ही

पर, वे युवक—धर्म के नवनिहाल, गुरु देवकी, जीवन-ज्योतियों को जताते हुए अग्रसर होते गये।—वर्षों के बाद वे अपने ध्येय पर पहुँचे। वे नवयुवक सन्यासी के रूप में थे। द्वार-द्वार का भिक्षाटन करना और गुरुदेव के सन्देशों को जिधर-तिधर फैलाना ही उनका एक मात्र काम था। सर्व प्रथम उन्हें जड़वाद का सामना करना पड़ा। वे अपने देवता के कार्य में तन्मय रहे—अग्रसर होते गये, और शनैः शनैः उस देवता के सन्देशों को भारतवर्ष भर में फैला दिये।

आज भारतवर्ष में स्वामी रामकृष्ण परमहंस का नाम लाखों आदमी जानते हैं। पर नहीं; उन पूर्ण शक्तिमान देव की ज्योति भारतवर्ष के बाहर भी देदीप्यमान है। विदेशों में, आत्मज्ञान के निमित्त, मेरे द्वारा बोले गये शब्द, मेरे नहीं, उन्हीं के हैं, सिर्फ अशुद्धियाँ–बुराइयाँ ही मेरी हो सकती हैं।

वर्तमान संसार के लिये स्वामी रामकृष्ण परमहंस का यही संदेश है, "शिक्षा की चिन्ता न करो। देवालय, गिरिजाघर, जात–पांत कोई वस्तु नहीं। मनुष्य की सत्य-ज्योति—"आत्मज्ञान"

रहा है। आकाशवाणी हो चुकी। अब तो जड़वाद के बादलों को आत्मवाद की प्रबल आंधी के झोंकों से दूर भगाना होगा। समय दूर नहीं है। शक्ति पयान कर चुकी है, एकबार फिर मानव-मानस-मन्दिर में स्वर्गीय ज्योतियां जल उठेंगी-उस समय-क्या होगा? सुख होगा-आन्तरिक सुख होगा, अकृत्रिमता का विनाश होगा-प्रकृति का साम्राज्य होगा, और वह स्थान-जहां से आत्मवाद की ज्योतिर्मय शक्तियों का विकाश होगा-होगा एशिया देश।

संसार विभिन्न कार्यों का क्षेत्र है। एक ही मनुष्य संसार के विभिन्न कार्यों का सम्पादन कर सकता है, ऐसा सोचना नितान्त भ्रम है। कैसी शिशुता है? बच्चे अपने शैशवकाल में भ्रमपूर्ण कल्पना किया करते हैं, कि निखिल विश्व में मेराही खिलौना सर्वोपरि मान्य है। ठीक उसी भांति, जड़वाद के अनुयायी कल्पना किया करते हैं कि, जड़वाद की सभ्यता, उसके उत्कर्ष तथा ज्योतियों को ग्रहण नहीं करनेवाले राष्ट्रों का जीवन सार-शून्य है-उनका जीना व्यर्थ है। उधर प्राच्य-ध्वनि ने एकबार सचेष्ट हो स्पष्टरूप से संसार को बतला दिया है कि सांसारिक

वस्तुओं से आच्छन्न रहने पर भी, सत्यता से शून्य जीवन निरर्थक है ।

दो विधान निकले, प्राच्य और पाश्चात्य । दोनों के प्रताप असीम हैं । दोनों दो आदर्श हैं—वर्त्तमान परिस्थिति का सुधार-दोनों आदर्शों का मिश्रित स्वरूप होगा । कारण, प्राच्य के लिये संसार के हितार्थ आत्मवाद (सत्यवाद) की जितनी आवश्यकता है, उससे कहीं कम आवश्यकता पाश्चात्य के लिये जड़-वाद (बुद्धिवाद) की नहीं है । प्राच्य राष्ट्र आत्मवाद की कामना में ही परितोष प्राप्त करते हैं, क्योंकि उनका जीवन सत्य के ही आधार पर निर्माणित होता है । उनका वही जीवन है, उनका वही मरण । प्राच्य सभ्यतावालों के ध्यान से पाश्चात्य सभ्यता वाले स्वप्न में हैं, और उसी भांति पाश्चात्य वालों के ध्यान में प्राच्य वाले । दोनों एक दूसरे पर हँसते हैं । एक सोचता है, कैसी अज्ञानता है ? भला पूर्णवयस्क नर-नारी जड़वाद में क्यों तल्लीन हैं, उन्हें तो आज या कल इन्हें छोड़ना ही होगा । दूसरा भी अज्ञानता का दोष लगाये बिना नहीं रहता । पर, नहीं, यहां तो मानव जाति के उत्थान के निमित्त प्राच्य और

भ्रात्वात्य दोनों आवश्यक हैं। यन्त्र मनुष्य को आन-न्दित नहीं कर सकते। वे, जो जड़वाद पर विश्वास करने के लिये उपदेश दे रहे हैं, उनकी बुद्धि के अनु-सार आनन्द यंत्रों के मध्य विच्छिप्त है। पर ऐसा नहीं होता। आनन्द का वेग मस्तिष्क से हुआ करता है। मनुष्य अपने मस्तिष्क का स्वामी है। वह स्वयं ही आनन्दित हो सकता है, दूसरे नहीं, लेकिन सवों के परे है क्या? क्या यह यन्त्र की शक्ति है? फिर क्यों नहीं तार के द्वारा विजली की धार संचारित करने वाला व्यक्ति प्रकाण्ड विज्ञानी एवं महाजन कहा जाता? क्या प्रकृति, बिजली के वेग से लाखों गुणा अधिक, एक मिनट में, अपना वेग प्रधावित नहीं करती? फिर, प्रकृति की ही अराधना क्यों न की जाय? क्या होगा? यद्यपि आप विश्व ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं, आप में सर्वोपरि अतुलनीय शौर्य एवं सौन्दर्य है–उससे क्या? आप उन पदार्थों को पाकर सुखी एवं आनन्दित नहीं हो सकते हैं? आनन्द आप के अन्तरतम में है। अपने को स्वयं पराजित कीजिये। मानव जाति का निर्माण माया को पराजित करने ही के लिये हुआ है—बात अक्षरशः सत्य है।

पर, पाश्चात्यवालों ने प्रकृति—माया—का अर्थ सिर्फ वाह्य प्रकृति में ही लगाया है। निःसन्देह वाह्य प्रकृति ने अपने विशाल पर्वतों, अपरिसीम उदधि एवं शक्तिशाली नदियों के आधार से उच्चतम आसन प्राप्त किया है। फिर भी, इससे कहीं अधिक आंतरिक प्रकृति की आस्था दिखायी पड़ रही है। वह सूर्य, चन्द्रमा एवं तारों से कहीं ऊँची है। जड़-वाद का संसार उससे दिखायी नहीं देता। वह तो एक दूसरे ही क्षेत्र में पदार्पण कराता है। वही प्राच्य की सीमा है। दूसरी ओर पाश्चात्य की भी। एतदर्थ; यह निश्चय ठहरा कि, आन्तरिक सुधार की आवश्यकता प्रतीत होने पर प्राच्य की शरण लेनी पड़ेगी; उसी भांति पदार्थ विद्या के बोध के निमित्त पाश्चात्य की। पाश्चात्य सभ्यता के पोषकों को जब सत्य, ईश्वर, आत्मा एवं विश्व-रहस्य विषयों का ज्ञान प्राप्त करना होगा, तो उन्हें निश्चय ही प्राच्य सभ्यता के अनुयायियों के पैरों पर सर झुकाना पड़ेगा।

मुझे आपके सम्मुख उस महान आत्मा की जीवन-गाथा उपस्थित करनी है, जिन्होंने भारतवर्ष के अन्दर आत्मवाद की एक अपूर्व लहर उठायी थी।

परन्तु इसके पूर्व, भारतवर्ष के पवित्र आदर्श को सामने रखें और सोचें कि भारतवर्ष है क्या ? जिनकी आँखें जड़वाद के निर्मम परदों के कारण कुछ भी देखने से असमर्थ हैं, जिनका एक मात्र ध्येय Eat-drink and be merry (खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ) ही रह गया है जिनके आदर्श की सिद्धि सिर्फ कामिनी-कांचन की प्राप्ति से ही होने वाली है, जिनके एक मात्र परमात्मा रूपचन्द हैं तथा जिनका जीवन ही व्यसन पर निर्भर करता है; उनके मस्तिष्क, भविष्य की चिन्तना नहीं किया करते। वे अपनी सांसारिक बुद्धि के विपरीत कोई कार्य सम्पादन नहीं करते। ऐसे व्यक्ति भारतवर्ष में क्या देखते हैं ? दारिद्र्य, सन्ताप, धर्मान्धता, अपवित्रता, चारो ओर अन्धकार और बिलकुल अन्धकार !! यह क्यों ? सिर्फ इसी लिये, चूंकि उनके मस्तिष्क में सभ्यता का अर्थ, असन-वसन, भाषा-बोध एवं सामाजिक-दक्षता में लिप्त है। बात भी ठीक ही है। जहां कहीं पाश्चात्य राष्ट्रों ने जड़वाद का हर एक पहलू से उत्थान किया है, वहाँ प्राच्य राष्ट्रों ने बिलकुल विपरीत कौशल दिखाया है। क्यों नहीं ? विश्व के सभ्य

समाज के मध्य एक वही जाति अवशेष रह गयी है, जिसने पर-सम्पति एवं साम्राज्य के हेतु सीमा का उलङ्घन नहीं किया। वे सदा निस्पृह बने रहे। उन्होंने अपने अनवरत परिश्रम के द्वारा पृथ्वी से अन्नोपार्जन किया; क्षुधा की तृप्ति की; प्रपञ्चों को परित्याग कर शांतिपूर्वक जीवन यापन करते रहे। पर नहीं, शायद उन्होंने भयंकर भूल की थी। तभी तो, अन्य राष्ट्रों ने आक्रमण कर उन्हें भूमिशायी कर दिया? अब क्या? अब तो वे स्वयं विनाश के लिये उतावले मालूम हो रहे हैं। उन्हें तो असभ्य कहाने की उत्कंठा हो रही है। परिणाम क्या बतलाता है? आत्मवाद के प्रबल पोषक महान विश्व के सम्मुख भीषण निनाद के साथ कह रहे हैं, 'मानव समाज के पवित्र आदर्श को नंगा नाचने दो। फाड़ दो, बिलकुल फाड़ दो!! उन परदों को भूतल पर रखने की कोई आवश्यकता नहीं है, जो सत्य पुरुषों की रक्षा किया करते हैं।' देखा? पर, नहीं, उनका कहना तो सार्थक है ही। वे तो उसे स्वप्नवत् समझते हैं। उनके लिये तो जड़वाद अटल सत्य है। वे उसी में स्वर्गीय सुख समझते

हैं। पर साथही साथ इतना भी अवश्य समझते हैं कि इस जड़वाद के परे सत्यवाद भी एक ऊँच आसन पर आसीन है। वहाँ पर मानव जाति का पवित्र आदर्श निवास करता है। वहाँ के मनुष्यों को पाप-पुञ्ज विचलित नहीं कर सकते। प्रवञ्चना उन्हें विनाश नहीं कर सकती। अग्नि की क्या हस्ती, जो उन्हें भस्म करे। कुछ नहीं, न उन्हें पानी भींगा सकता है, न ताप सुखा सकता है। उनके लिये मृत्यु कोई वस्तु नहीं। जिस भाँति पाश्चात्यों के लिये जड़वाद विषयक कोई वस्तु-विशेष सत्य एवं मान्य है, उसी भाँति प्राच्यों के लिये सत्य ही मानव-प्रकृति का सद्गुण एवं सराहनीय साधन है।

जब तुम करतल-ध्वनि के साथ, वीर-बाँकुरा बन, तोपों के सम्मुख उछलने लगते हो, वीरता के नाम पर मातृभूमि के लिये जीवन की आहुति चढ़ा देते हो, वह किसके भरोसे? उसी मालिक के पीछे, उसी देवता के पीछे!!—मनुष्य जब पूर्णरूपेण निर्धारित कर लेता है कि संसार में ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट है—सबके सब झूठे एवं भ्रमपूर्ण हैं, वह अपने धन-धान्य को तिलाञ्जलि दे, प्रदर्शन करता है,

संसार को दिग्दर्शन कराता है, झूठे पदार्थों को देखो, मैं जिसे समझे बैठा हूं—जिसका आधार लिये फिरता हूँ वही, अटल, अगम्य, सत्य है। नदी के तट पर बैठा हुआ व्यक्ति सोचता है जीवन का अर्थ बाह्य नहीं, आन्तरिक है। वह निस्पृह अपने प्राणों की आहुति देने के लिये कटिबद्ध हो जाता है। यह क्यों? वीरता! देशभक्ति!! वह तो देशभक्ति में परिपक्व है। वह तो मृत्यु का आलिङ्गन करना चाहता है। उसकी ध्रुव-धारणा है, मृत्यु कोई वस्तु नहीं। उसकी शक्ति ने हजारों वर्षों के विदेशी आक्रमणों पर भी उसे अजय रखा है। वह राष्ट्र आज भी जीवित है। उसकी जर्जरावस्था में भी महान आत्माओं का उदय होना नहीं रुक सका। ऐशिया ने आध्यात्मवाद के निपुण नायकों का निर्माण किया, और पाश्चात्य ने राजनीति एवं विज्ञान के विशारदों का। अर्वाचीन शताब्दी के आदिकाल में, पाश्चात्यवालों ने भारतवर्ष पर अपना प्रभुत्व जमाना प्रारम्भ किया, अपनी पाशविक शक्ति के द्वारा-ऋषियों की सन्तान को असभ्य, धर्मान्ध एवं मूर्ख आदि अपशब्दों से सुशोभित

किया। हजारों वर्षों की अनन्त तपस्या को पाखण्ड का सूत्र बताया। आत्मा और परमात्मा की विचार-तन्मयता को निरर्थक—निरी मूर्खता के नाम से प्रख्यात किया। इन्हीं प्रश्नों को लेकर विद्यालयों में सरगर्म चर्चा उठ चली। क्या समूचे राष्ट्र का जीवन आज तक निरर्थक—सार शून्य रहा ? यदि हाँ, तो उन्हें पाश्चात्य विधि विधानों पर ही चलना होगा ! फाड़ डालो प्राचीन ग्रंथों को ! अध्यात्मवाद को जला डालो, मन्दिरों को चकनाचूर कर दो, और उपदेशकों को मार भगाओ !!!

पाश्चात्य विजेताओं ने ऐसा किया ? नहीं। भला वह व्यक्ति, जिसने अपने धर्म का प्रसार तोप और तुफङ्गों के द्वारा किया; वह प्राचीन विधि-विधानों को धर्मान्धता एवं प्रवञ्चना के नाम से संबोधित करे ? विद्यार्थी अपने शैशवकाल से ही पाश्चात्य-विद्यालयों के दासानुदास बना दिये जाते हैं। उनके विचार कलुषित—बिलकुल कलुषित हो जाते हैं। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या, यदि वे प्राचीनता पर अविश्वास प्रकट करें ? कैसी सूझ है ? धर्मान्धता को परित्याग किये बिनाही, बिना

सत्य का अन्वेषण किये ही, सत्य का स्वरूप देखने लगते हैं? पाश्चात्य क्या कहता है? सन्तों की आवश्यकता नहीं, वेदों को जला डालो, क्योंकि पाश्चात्य का सुन्दर सन्देश है। विना विचार-तन्मयता के ही यह ध्वनि गूँज उठी। शायद यह भारतवर्ष के अन्दर सुधार की एक लहर उठी है।

यदि तुम्हें सच्चा सुधारक वनना है, तो, निश्चय समझो, निम्नाङ्कित तीन वातों पर ध्यान दिये विना तुम सच्चे सुधारक नहीं हो सकते। पहला—क्या तुम्हारे पास सहानुभूति है? अपने भाइयों के लिये सच्ची सहानुभूति रखते हो? क्या इसपर विचार करते हो, कि, जगत् के अन्दर दारिद्रय, मूर्खता एवं धर्मान्धता का प्रावल्य है? क्या मानव जाति को अपना वन्धु समझते हो? क्या ये विचार तुम्हारे शरीर की नस-नस में विद्युत की भाँति संचारित होने लगते हैं? यदि ऐसा है तो, सुधार-विधान का प्रथम नियम तुमसे पालन होता है। दूसरा—भले ही प्राचीन विचार, धर्मान्धता में सन्नद्ध हों—पर धर्मान्धों के चारो ओर सत्य और कांचन के धातु पड़े हैं। क्या तुम्हारे पास ऐसा कोई साधन है, जिसके द्वारा तुम

उस कांचन को निर्मलावस्था में अकेले ला सको?—यदि हाँ तो, तुमने सुधार-विधान का दूसरा नियम पालन कर दिया। तीसरा—तुम्हारा ध्येय क्या है? क्या तुम्हें निश्चय है कि बल वैभव एवं कामिनी कांचन के प्रबल झकोरों को सह सकोगे? विचलित नहीं न होगे? अपने आदर्श पर अटल रहोगे न, यदि सारा जगत् तुम्हें विनाश करने पर भी तुल जाय, तो तुम्हें निश्चय है न, कि जीवन में महान आपत्तियों के आने पर भी कर्त्तव्य-पालन करने से विचलित न हो सकोगे? जीवन की समाप्ति तक, और हृदय में एक धड़-कन रहने तक भी? बस, निःसन्देह तुम सच्चे सुधारक हो, गुरु हो, स्वामी हो, आशीर्वाद दाता हो!!—पर—नहीं, मनुष्य ऐसा अधीर है, ऐसा अन्धा है कि वह क्षण भर के लिये भी धैर्य धारण नहीं करता। वह तो शासन करना चाहता है? उसको अपने कर्त्तव्यों का फल शीघ्र मिलना चाहिये। क्यों? वह अपना फल स्वयं पाना चाहता है, दूसरे के लिये उसे चिन्ता नहीं। गीता में श्रीकृष्ण भगवान बतलाते हैं, "कर्त्तव्य किये जाओ, फल की चिन्ता न करो।" फलप्राप्ति के लिये क्यों व्यग्र हो? हमें तो कर्त्तव्य

करना है। फल के लिये हम सोचें ही क्यों? पर मनुष्य को शान्ति कहाँ? वे तो विधि-विधानों के पीछे पागल बने फिरते हैं।

मेरे पूर्व कथनानुसार, भारतवर्ष में एक नवीन सुधार की आँधी आयी। उसने जड़वाद का विस्तृत रूपेण प्रचार किया। चारो ओर प्रश्न हो रहे हैं, यदि जड़वाद की नींव क्रमशः सुदृढ़ होती गयी, तो, सम्भव है, ऋषियों का पवित्र सन्देश भूतल से मिट जाय! परन्तु ध्यान रहे, इस राष्ट्र ने हजारों ऐसे सुधारों के भयंकर आक्रमणों का साहस-पूर्वक मुठभेड़ की है। यह किस खेत की मूली है? कितनी आँधी आ चुकी! तोपों के भीषण निनाद का कहना ही क्या? दामिनी-दमक को विनिन्दित करनेवाले कृपाणों का शौर्य समाप्त हो चुका! सबकी शक्ति विनष्ट हो चली। प्रभु की विजय हुई! राष्ट्रीय भावनाएँ अजय, सुरक्षित रहीं!!

भारतीय राष्ट्र का विनाश नहीं हो सकता। वह तो अमृत्य है। जबतक उसकी ज्योति अवशेष रहेगी; उसकी सन्तान आत्मवाद को जीवन का एक मात्र ध्येय समझती रहेगी; तबतक उसे कोई परा-

जित नहीं कर सकता, यह ध्रुव सत्य है।—आज भले ही वे दरिद्र कहे जायँ; भले ही धर्मान्धता ने उन्हें आच्छन्न कर दिया हो, पर, फिर भी उन्हें याद रखना चाहिये, कि हम उन्हीं ऋषियों को सन्तान हैं!!—पाश्चात्य प्रदेशों के मनुष्य, वीथियों में अपनी प्राचीनता का अन्वेषण करते हैं—भारत-वर्ष में भी, चक्रवर्ती सम्राट तक अपनी प्राचीनता का लक्षण दीन-ऋषियों से पूछा करते थे, या अब भी हैं—उनकी अवस्था क्या थी? वृक्षों की छाल पहनना, कन्दमूल और फलों पर जीवन यापन करना, वन-वन की धूलि फांकना और अपने इष्टदेव की आराधना करना—उन्हें अपनाना—अपने में मिलाना!!—यही प्राचीनता है, इसे ही हम चाहते हैं। जहाँ ऐसी पवित्रता है, भला वह भारत-राष्ट्र कभी विनष्ट हो सकता है? मैं कहता हूँ—नहीं!!

विभिन्न सम्प्रदायों की उथल-पुथल के मध्य, अम्बर ने अपना नया रंग बदला। चतुर्दिशि में एक गूंज उठ गयी।—१८३५ ई० की २० वीं फरवरी को, एक निर्धन ब्राह्मण के घर, बंगाल के एक अख्यात ग्राम में, एक ज्योतिर्मय शिशु का निर्माण

हुआ। इसके माता-पिता सनातनधर्मी थे। सच्चा सनातनी ब्राह्मण त्याग का महान स्वरूप होता है। सांसारिक प्रपञ्चों से उसे क्या सम्बन्ध? उसे भिक्षा-दान से मतलब ही क्या?—उनका जीवन कैसा कठिन है?—तुमने अनेकानेक ब्राह्मणों को देखा होगा, पर, क्या कभी यह भी पूछने की चेष्टा की है कि, ये विचित्र ब्राह्मण—समुदाय क्या करते हैं? दैशिक—वर्गों में सबों से ये निर्धन हैं। उनकी पवित्र शक्ति त्याग के अन्दर छिपी है। उनके पास अर्थ—लोलुपता है ही नहीं। वे संसार भर से निर्धन हैं—एतदर्थ उनकी शक्ति महान है। इस निर्धनावस्था में भी ब्राह्मण-वधू किसी निर्धन को, अपने ग्राम या घर से बिना कुछ दिये, जाने नहीं देती। भारतीय माताओं का यही पवित्र आदर्श है। उनके नम्र हृदय में पर-सेवा करने की अभि-लाषा बनी रहती है। यही कारण है कि भारत की ललनाएँ परमात्मा का स्वरूप समझी जाती हैं।—

मेरे स्वामी—मेरे देवता, की मां शुद्ध स्वरूपा थीं। सच्ची भारतीय माता थीं। ऊंच वर्गों में त्याग की मात्रा विशेष होती है। लघु-वर्गीय, इन्द्रियों की तृप्ति

कर सकते हैं; पर समाज के ऊँच कक्षों में अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उन्हें तो सीमा का उल्लङ्घन नहीं करना होगा !—पाश्चात्य विचारों को तुलनात्मक दृष्टि से देखें। उनका जीवन स्वावलम्बन से पूर्ण है। वे ध्रुवधीर हैं। सिद्धान्त की रक्षा करना भलीभाँति जानते हैं। किसी ध्येय के पीछे वे तब तक तल्लीन रहते हैं, जबतक उसका परिणाम निकल नहीं जाता। उनका सिद्धान्त पक्का होता है, उससे उन्हें कोई विचलित नहीं कर सकता।

सनातनी हिन्दू अपने सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं चलते। उनका जीवन पुरातन ग्रंथों में तल्लीन रहता है। वे उन ग्रंथों की सूक्ष्मता की व्याख्या किया करते हैं। वे भले ही अनशन धारण करलें, पर किसी भी स्थिति में, पर-वर्गीय व्यक्ति के हाथों का स्पर्श किया अन्न ग्रहण नहीं कर सकते। सबों के परे उनके पास अपूर्व उत्साह एवं साहस है। उनका जीवन धर्म एवं विश्वास की लहर है। भले ही हम परम्परागत विचारों को उपयुक्त न समझें; पर उनके लिये तो वही ग्राह्य है। —हमारे धर्मग्रन्थों में विदित है कि, "हमें महान से महान दाता बनना

चाहिये।"—पर-उपकारार्थ, जीवन की आहुति देना उचित कर्त्तव्य है; इसे अवश्य करना चाहिये। ब्राह्मणों का तो यह अपरिमेय आदर्श है। भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य से जिनका सम्पर्क है; उन्हें भारत की दान-प्रवृत्ति का भलीभाँति दर्शन हुआ होगा। महाभारत का एक वंश कैसा पवित्र था? वंश ने भूखों रहकर प्राणों की आहुति दे दी। किसके पीछे? भिक्षुक के! यह कोरी कल्पना नहीं, आज भी उनकी आत्मा वर्त्तमान है। मेरे स्वामी के मां-बाप भी उसी विशुद्ध चरण के अनुयायी थे। वे अत्यन्त निर्धन थे, फिर भी उनकी माँ निर्धनों के सहायतार्थ भर-भर दिन का अनशन किया करती थी। ऐसे पवित्र दम्पति के कोख में मेरे स्वामी—मेरे देवता, का निर्माण हुआ। मेरे स्वामी-अपने शैशव-काल से ही, मृदुल-मञ्जुल-मूर्ति एवं वैभव और प्रतिमा की न्यारी-नव खानि थे। उन्होंने शैशवावस्था से ही पूर्व कृत्यों पर मनन करना आरम्भ किया। उनका ध्येय निर्माणित हो चुका था। उसकी परिपुष्टि के लिये असीम शक्ति का उपयोग किया गया। यौवन उभरित हो चला था, ठीक उसी समय

पिताजी का स्वर्गारोहण हो गया । ज्योतिर्विद् बालक विद्यालय में पहुँचाया गया । ब्राह्मण-पुत्र को विद्यालय की शरण लेनी ही चाहिये । सामाजिक विधानों के अनुसार विद्याभ्यास करना तो उसका एक मात्र व्यवसाय है । प्राच्य-शिक्षा प्रणाली-आज भी भारतवर्ष के अन्दर यत्र-तत्र सन्यास-शिक्षा के रूप में प्रचलित है-आधुनिक शिक्षा प्रणाली से वह बिलकुल विभिन्न थी । विद्यार्थी निःशुल्क विद्याभ्यास करते थे । विद्या-विक्रय को तुच्छ-दृष्टि से देखा जाता था । विद्याबोध निःशुल्क और अभेध्य ही श्रेयस्कर होता है । अध्यापकों को सिर्फ निःशुल्क ही विद्यार्थियों को विद्या-दान देना नहीं है; वरञ्च अत्यधिक रूपसे परिधानों एवं क्षुधातृप्ति के अर्थ, अन्नों का भी प्रबन्ध करना उचित है ।--धन्न-धान्य सम्पूर्ण परिवार अध्यापकों के विवाहोत्सव, दाह-क्रिया या ऐसे ही आवश्यकीय कार्यों के हेतु, दान दिया करते थे । उन्हें विभिन्न भिक्षा-दानों का अभियोक्ता निर्वाचित कर दिया जाता था । वे आवश्यकतानुसार अपना धर्म समझते हुए, विद्यार्थियों का भरण-पोषण किया करते थे । जिस चरित्र-नायक की व्याख्या मैं कर रहा

हूँ, वे एक विद्वान-अध्यापक के सहोदर लघु भ्राता थे। उन्हीं के साथ इनका विद्याध्ययन प्रारम्भ हुआ। अल्प समयोपरान्त ही उसे ऐसा ज्ञान हो गया कि, "यह तो सांसारिक, प्रवञ्चनापूर्ण शिक्षा है। यह तो जड़वाद की जटिल-शृंखलों में आजीवन आवद्ध कर देगी।" वस—विद्याभ्यास की वह प्रणाली समाप्त हो गयी। आत्मवाद की अनुपमेय शिक्षा-पद्धति के अन्वेषण में तल्लीन हो गये।—पिता का देहान्त परिवार की निर्धनता—और इस नवनिहाल, प्रतिभा निधान, नवयुवक का देदीप्यमान जीवन ! भला यह कैसे हो ?—सम्बन्ध-विच्छेद ! सांसारिक-प्रपञ्चों से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया। कलकत्ता के समीप एक मन्दिर का महंत वन गया। पर उसने सोचा, एक ब्राह्मण के लिये मंदिर का महंत वनना हास्यास्पद है। हमारे मंदिर देवालय नहीं ! वहाँ जन-समूह अभ्यर्थना नहीं कर सकता। ध्रुव सत्य है, अटल निश्चय है, भारतवर्ष में, लोक-सेवा से वढ़कर कोई अभ्यर्थना—पूजा नहीं। देवालय तो सम्पत्तिशालियों के वैभव-सम्पन्न धार्मिक-कृत्य हैं।

सम्पत्तिशाली मनुष्य देवालयों का निर्माण

करते हैं। उसमें परमात्मा के अवतार का चित्र या मूर्ति रखते हैं। ईश्वर के नाम पर उसकी अभ्यर्थना करते हैं। रोमन कैथोलिक देवालयों के प्रणेताओं को ऐसी अर्चना, अभ्यर्थना सर्वथा ग्राह्य एवं मान्य हैं। वे प्रभु के सन्मुख पवित्र ग्रंथों का पाठ करते, तथा प्रतिमा की आरती उतारा करते हैं। उनके हृदय के मध्य उन प्रतिमाओं के प्रति असीम श्रद्धा है। देवालयों में ऐसे ही कृत्य सम्पादन किये जाते हैं।— इसी हेतु देवालयों के विरोधी, समर्थकों से कहीं श्रेष्ठ हैं। मंदिर विरोधी धर्मपालकों में कहे जायँ तो, कोई अतिशयोक्ति नहीं। क्योंकि, भारतवर्षीय धर्म वैयक्तिक व्यवसाय के अन्दर निहित रहता है। व्यक्तित्व की रक्षा करना प्रधान धर्म है। प्राचीनता मन्दिर का महंथ बनना हास्यास्पद बतलाती है।— एक दूसरी विचार-धारा सामने रखिये। यह भी शिक्षा-प्रणाली का तद्रूप है। नहीं, वह तो जड़ता से और आच्छन्न है।—देवालयों के महंत-पुजारी स्वर्गीय-सुखों (मोक्ष, पुण्य आदि) का व्यवसाय किया करते हैं। उन्हें शुल्क चाहिये। मुद्रा की मायावी लीला देखिये। अब तुम भली भाँति निर्धारित कर

सकते हो, कि वह बालक दारिद्र्य के भयंकर आघात से उद्वेगित हो क्या कर सकता था ? उसके लिये कोई सुगम साधन अवशेष था तो, वही—"मन्दिर का महंत-पुजारी" बन जाना।

बंगाल में अपरिमित कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। उनकी कविताएँ जन-समुदाय को ग्राह्य हुईं। वे कलकत्ता की विथियों में तथा अन्य ग्रामों में सुमधुर ध्वनि के साथ गायी गयीं। वे धार्मिक तथा विचार प्रगाढ़ता की. द्योतक हैं। भारतवर्ष के अन्दर कोई ऐसा धार्मिक ग्रंथ नहीं है, जो इस सिद्धान्तवाद की परिपुष्टि नहीं करता हो !—मनुष्य को अवश्यमेव उस प्रभु के अस्तित्व पर विश्वास करना चाहिये। उसकी प्राप्ति की उत्कंठा रखनी चाहिये तथा उसके समीपवर्ती बनने के हेतु अनवरत परिश्रम करना चाहिये। इसे ही धर्म कहते हैं।

भारतीय इतिहास भगवान की सत्ता में निमग्न रहने वाले सज्जनों की गाथाओं से परिपूर्ण है। ऐसी शिक्षा प्रणाली धार्मिक आधारों पर अवलम्बित थी। प्राचीन ग्रंथ एवं शास्त्रादि महान व्यक्तियों की कीर्ति हैं। उन्होंने उन ग्रन्थों का निर्माण आध्यात्मवाद के

आधार पर किया था। इन ग्रंथों का निर्माण बुद्धि विकास के हेतु नहीं हुआ था। यहां तार्किकों के तर्क सारशून्य हैं। यहां तो कल्पना है ही नहीं। कार्यरूप में पहले परिणत कर लिया, फिर जन-समूह के अंगीकारार्थ प्रदर्शन किया! उन ग्रन्थों की व्याख्या उन्हीं त्यागी, विद्वानों के समानान्तर महाजन कर सकते हैं। वे बतलाते हैं, "जीवनकाल में सत्य की प्राप्ति एक अपूर्व वस्तु है। शायद इसी गुण के विकास होने पर धार्मिक-ज्योति दिखाई देती है! यही सब धर्मों का केन्द्र है। शायद यही बात है, कि एक मनुष्य-वक्ता मनुष्य, तार्किक मनुष्य, अपने विद्या-चातुर्य के प्रभाव से अपने शिक्षामृत का पुट, अणुमात्र भी, जनसमूह के कर्ण-कुहर में देने से असमर्थ हो जाता है!" परन्तु दूसरी ओर क्या है? एक निर्धन, निरामूर्ख, जिसे अपनी मातृभाषा का भी ज्ञान नहीं है—उसकी, आधा जन समूह, देवता समक्ष पूजा अर्चना करता है।—साक्षात् प्रभु का दर्शन यहीं हो जाता है।—जन-साधारण ने निश्चित रूपेण निर्धारित कर लिया है कि, वह व्यक्ति सत्य की सीमा पार कर गया है। वह तो धर्म की व्याख्या

अटकल रूपसे कर सकता है, वह धार्मिक प्रश्नों के तिमिराच्छादित प्रदेश में प्रविष्ट नहीं कर सकता। उसका प्रबल मस्तिष्क आत्मा और परमात्मा को नश्वर समझने के लिये तैयार नहीं होता।—चतुर्दिशि से जन समूह उसके दर्शनार्थ आते, तथा शनैः शनैः उस व्यक्ति की, परमात्मा के अवतार के रूप में, अभ्यर्थना करते देखे जाते हैं।

देवालय में कल्याणमयी भगवती की मूर्ति थी। उस बालक को प्रातः एवं सन्ध्याकाल में नियमित रूप से पूजा करना होता था। इसी विचार-धारा के मध्य, एक दिवस उसके मस्तिष्क में प्रश्न उत्पन्न हुए, "क्या इस प्रतिमा के पीछे भी कोई वस्तु है? क्या जगत के बीच कल्याणमयी माता निवास करती है, और उसका कल्याण भी करती है? यह सत्यविद्ध है, या स्वप्नवत्? धर्म में कुछ सचाई है?" नास्तिकता के ऐसे जटिल प्रश्न प्रत्येक हिन्दू-संतान के मृदुल-मस्तिष्क में सुदृढ़ आसीन रहते हैं। हमारे देश में नास्तिकवाद की लहर उफान ले रही है, 'क्या हम सात्विक-प्रवृत्ति में तल्लीन हैं? वे विचार पद्धतियां, जिनका सम्पर्क आत्मा और परमात्मा से

अत्यधिक निगूढ़ है, हमें सान्त्वना नहीं देती। विचार पद्धतियां या ग्रंथालियां हमें सुखद शांति की प्राप्ति नहीं करा सकतीं। हमें तो आत्म संयमता के ज्ञान उपलब्ध-करना है!—क्या सचमुच परमात्मा की सत्ता है? क्या मैं उसे देख सकता हूं? क्या दुरुह तपस्या के पश्चात् सत्य का उद्यापन कर सकता हूँ?—पाश्चात्य-मस्तिष्क भले ही इसे असम्भव समझें; परन्तु हमारे लिये यह बिलकुल सम्भव-बिलकुल सम्भव-बिलकुल सम्भव है!!! इस निगूढ़तम परिज्ञान के पश्चात् मानवी जीवन का परित्याग करना होगा। हजारों मनुष्य प्रति वर्ष इसी ज्ञानार्जन के कारण गृह-विहीन बने और बहुतों ने इसीके अन्वेषणार्थ प्राणों की आहुति देदी। पाश्चात्य-मस्तिष्क में निःसन्देह यह भ्रमपूर्ण मालूम होगा। परन्तु, सदियों के पीछे वही ज्ञान पाश्चात्य-जगत का सम्भवपूर्ण आधार होगा।

जीवन क्षण भंगुर है। महान सम्राटों या निर्धनों को इसके आघातों से वञ्चित नहीं रहना होगा। उनके यहां निरोग और रोग का प्रश्न ही क्या? उन्हें तो क्षण-भंगुर बनना ही होगा! जीवन का

एक आधार है—हिन्दू कहते हैं; वह है "परमात्मा और धर्म"। यदि यह सत्य है, तो, जीवन निःसन्देह जीवन है। वह तो सत्य है, आनन्द का निधान है!! अन्यथा, जीवन, बिलकुल व्यर्थ, भार पूर्ण, दुखान्त है। यह मेरा ज्ञान है, आदर्श है। यहां तर्क शास्त्र का आधिपत्य काम नहीं करता। सत्यता-समझ के बीच छिपी रहती है। हमें स्वयं धर्म का प्रदर्शन करना होगा। हमें परमात्मा पर विश्वास करना होगा। हमारा अनुभव ज्ञान हमें इन बातों की सत्यता का प्रदर्शन स्वयं करा देगा।

इस ज्ञान ने उस बालक के मस्तिष्क में सुस्थिर आसन बना लिया। दिन प्रति दिन उनके वारिज-नयन व्यथा के आँसुओं को उलीचा करते; और मुख-पटल व्यथित ध्वनि के साथ यह कहते हुए विलग हो जाते; "जगत् माता! क्या यह सचमुच तेरी ज्योति है, या कवि की काल्पनिक भावनाएँ? क्या मेरी कल्याणमयी जननी कविवरों एवं निरंकुश मनुष्यों की कोरी कल्पना मात्र है या सत्यता का साक्षात स्वरूप?—शाब्दिक-ज्ञान निर्मित ग्रन्थों के शिक्षा-संचय

से हम भलीभांति अवगत हैं—उसे कोई नहीं था—अकेला-सिर्फ अकेला—एतदर्थ अत्यधिक प्राकृतिक था। उसका मस्तिष्क अत्यन्त विशुद्ध था। उसकी विचार धारा अतिनिर्मला थी। उसके सर्वोत्कृष्ट ज्ञान-चक्षु जीवन की दिव्य-ज्योतियों के अन्वेषणार्थ विस्फारित हो, टकटकी लगाये रहे, और तब तक लगाये रहे, जब तक इष्ट-सिद्धि की प्राप्ति न हो सकी! अब वह विशेष पूजा अर्चना के चक्कर में नहीं पड़ सका। अब तो उसके लिये प्रतिमाओं को निर्माल्य भेंट चढ़ाना अति दुष्कर एवं दुरुह कार्य प्रतीत होने लगा। उसके लिये आरती प्रदीप्त करना अब कहां? एक दिन उसने भरपेट आरती उतारी, और बस, सारे बाह्य उपकरणों से मुक्ति मिली? अब देवालय का श्रद्धा-पूर्ण अनुष्ठान कहां? वनवास करना ही श्रेयस्कर है! घोर-विपिन की निर्जन झाड़ियों में प्रविष्ट हो गया! उस जीवन की अमूल्य घड़ियों में एक दिव्य वाणी हुई, "मुझेसंसार से अवगत न कराना!" वह अपने को भूल गया! क्षुधा तृप्ति का प्रश्न ही कहां? उस भीषण परिस्थिति में एक परिजन अनवरत प्रयत्न के पश्चात् उस देवता को कुछ अन्न खिलाया

करते थे; पर क्या उससे उसे प्रसन्नता मिलती थी ?– नहीं, कदापि नहीं !!

कितने रैन–दिवस व्यतीत हो गये, प्रति दिन सन्ध्याकाल, मन्दिर के घंटों की गड़गड़ाहट तथा जन–समूह के प्रार्थना-गान आरण्य में गुञ्जार मचाते रहते थे, पर क्या ये उपकरण शांति प्रदायक होते थे ? नहीं, वहां तो व्यथा थी, उत्पीड़न था। उन के मुख–पटल से कातर ध्वनि निकलती थी, "क्या आज का दिन व्यर्थ हो गया ? माता ! तुम्हारा दर्शन नहीं होगा ? मेरे जीवन की अमूल्य घड़ियां समाप्त हो रही हैं। मैंने अभीतक सत्य की प्राप्ति नहीं की।" आत्मिक-व्यथा से उत्पीड़ित हो, वह देव कभी-कभी तो भूतल पर रुकुट की नाईं पड़ जाता और अश्रु–धार से तराबोर हो जाता।

यह तो भयंकर कामना है—मनुष्य का हृदय आवद्ध हो जाता है। अनन्तोगत्वा, उस व्यक्ति ने मुझसे पूछा, "मेरे बच्चे ! कल्पना करो, एक प्रकोष्ट में कांचन का समूह है, और दूसरे में प्रचंड डाकू का बसेरा, क्या इस परिस्थिति में वह डाकू भला निद्रा की सुकोमल गोद में विश्राम कर सकता है ? अस-

म्भव ! उसके मस्तिष्क में प्रलोभन का भीषण तूफान उठ खड़ा होगा · वह उस प्रकोष्ट में प्रविष्ट हो कांचन का स्वामी बनना चाहेगा। क्या तुम्हें निश्चय है कि ऐसे व्यक्ति, इन इन्द्रिय द्वन्दों के अभ्यन्तर सत्य का अनुभव प्राप्त करते हैं? उन्हें परमात्मा की सत्ता का ज्ञान होता है? उस एक, अगम्य, अजेय, आनन्दमूर्ति, सदाशिव, "एकमेवद्वितीयो नास्ति" सात्विक-आस्तिक में सम्बन्ध-प्रगाढ़ता होती है? उस स्वर्गीय अनान्द की तुलना में यह बुद्धि उत्पादक आनन्द तृणवत् है, लड़कों का खेल है। उसके अध्यवसाय की इतिश्री नहीं होती। वह तो अपने ध्येय के पीछे पागल हो जाता है। इसी स्वर्गीय पागलपन ने उस ज्योतिर्विद् बालक का आलिङ्गन किया। उसका कोई पथ-प्रदर्शक नहीं! ज्ञान–बस, सिर्फ ज्ञान—वह भी पागलपना में सन्नद्ध!! संसार को परित्याग करने वाला व्यक्ति, निःसन्देह पागल है, पर है वह योगी का सत्त! इसी पागलपन ने विश्व-ब्रह्माण्ड का अस्तित्व पलट दिया। कोई अत्युक्ति नहीं, इसी पागलपन के पीछे, भविष्य की शक्तियां, जो आज जगत से परित्यक्त हैं–आविर्भूत

होंगी।—सत्य का अन्वेषण करते-करते उस बालक के कितने दिन, सप्ताह और महीने व्यतीत हो गये। उसे स्वप्न होने लगा, विचित्र वस्तुओं का दर्शन होने लगा। जीवन का रहस्य क्या है, शायद उसे दृष्टिगत होने लगा।—माया की यवनिका-पतन होने लगी। पर, अब किसलिये? अबतो मातेश्वरी ने स्वयं अध्यापन-कार्य प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने उस बालक को सत्य का दुस्तर पाठ—कंठाग्र करा दिया। वह राजराजेश्वरी, जगत जननी सरस्वती का अवतार थीं।—भारतीय राष्ट्र का रहस्यमय आदर्श वहीं दृष्टिगत होगा! हिन्दू-नारियों की अल्पज्ञता के अभ्यन्तर—जिसे आज पाश्चात्य स्वतन्त्रता का लक्षण समझता है—एक महान तत्वपरिचायिका का प्रादुर्भाव हुआ। वह सन्यासिनी थीं। ललनाओं को भी संसार त्याग करना पड़ता है। उस देवी ने अपने धन्न्-धान्य सम्पूर्ण भवन का परित्याग कर दिया था। प्रभु की सत्ता में निमग्न रहने वाली एवं आजन्म ब्रह्मचारिणी थी। वह स्वर्गीयादेवी, उस वन योगी बालक के दर्शनार्थ आरण्य में प्रविष्ट हुई। उसने उस बालयोगी से कहा, "वत्स! वे कैसे

भाग्यवान हैं, जिन पर यह मस्ती सवार होती है ? संसार पागलपन का समूह है ।—अमुक अर्थ के पीछे पागल है तो अमुक ख्याति के पीछे ? विचित्र इच्छाओं के पीछे सब पागल हैं । वे ही सच्चे भाग्यवान हैं, जिनपर ईश्वर की मस्ती सवार रहती है ! पर, ऐसी आत्मा अल्प हैं ।"—वह देवी उस बालयोगी के साथ वर्षों तक रही; और भारतीय धर्म से दीक्षित किया । उसे योग के विभिन्न आसन बताया । यहाँ तक नहीं, बल्कि उसे, उस देवी ने आत्मवाद की अपरिमित सुरसरी की धार में प्रवाहित कर दिया !

कुछ दिनों के पश्चात् उसी आरण्य में एक सन्यासी आया । वह भारत का भिक्षुक योगी था, विद्वान था, आध्यात्मवादी था, आदर्शवाद का स्वरूप था ! विश्व का अस्तित्व सत्य पर अवलम्बित है—उसे विश्वास नहीं था । 'संसार का विनाश नहीं हो सकता, यह उसकी कल्पना के परे था । वह उस बालयोगी को वेदों का रहस्य समझाने लगा । शीघ्र ही उसे बोध हो गया,—परीक्षार्थी परीक्षक से कहीं योग्य है । वहाँ उसने बालयोगी के

साथ कुछ दिनों तक निवास किया, पाश्चात् अन्य स्थान के लिये पयान कर गया।

कुटुम्बियों ने—सोचा, शायद वैवाहिक सम्बन्ध संस्थापित होने से उसका पागलपन दूर हो? आधुनिक समय के कुछ पूर्व वैवाहिक-सम्बन्ध माता-पिता की इच्छा पर अवलंबित था। वर-कन्या का उसमें हाथ ही क्या? मेरे बालयोगी का आठ वर्ष की अवस्था में ही एक पञ्च-वर्षीय बाला के साथ पाणि-ग्रहण हुआ। उसे आदर्श विवाह नहीं कह सकते! आदर्श विवाह तो पूर्ण वय प्राप्त करने पर होता है। ऐसा विवाह किस अर्थ का सूचक है; जहाँ वर और कन्या दोनों एक दूसरे से पूर्णतया अनभिज्ञ हैं?—परिणाम क्या निकला? पतिदेव को स्वप्नावस्था में भी धर्म-पत्नी का अनुभव प्राप्त नहीं हो सका! वह उसे भूल सा गया। धर्मपत्नी-तिरस्कृता धर्मपत्नी ने अपने पतिदेव की गाथाओं को सुना। वह स्थिर नहीं रह सकी। कैसे रहे? भारतीय सतियों का तो यही आदर्श है। वह पतिदेव के समीप पहुँची; और उनके चरणों में अपने जीवन की भेंट चढ़ाई।—"मैं तुम्हारी हूँ। क्या यह किंकरी

स्वामी की सेवा से वञ्चित रहेगी ?"—धार्मिक मनुष्य धर्म के सामने सांसारिक माया-जालों की परवाह नहीं करते। पर, वह देव, धर्मपत्नी के चरणों पर स - नवाते हुए बोला, "मैंने संसार की नारियों को मातृवत् पूजन करने का पाठ याद कर लिया है। मैं तुम्हारी सेवा करूँगा।"

वह देवी ज्योति की मूर्ति थी। उसने पतिदेव की आकांक्षाओं को ताड़ लिया। उसने पतिदेव की सेवा में निवेदन करते हुए कहा, "स्वामिन्! मैं आपके उज्ज्वल जीवन को, सांसारिक विषयों के साथ निश्चित नहीं कर सकती। मैं चाहती हूँ—आपकी भूरि-भूरि सेवा करूँ। भला मीन नीर के बिना कैसे रह सकती है? बस, देव! और कुछ नहीं! जीवन-पर्यन्त पतिदेव रूपी सहायक विटप की छाया बनी रहूँ, बस—जीवन की एक मात्र यही अभिलाषा है।"—उस शांति स्वरूपा देवी ने पतिदेव की अपूर्व सेवा की!—वह योगी उस अन्तिम बाधा से भी मुक्त हो गया!

—उस पूज्यदेव का धार्मिक-उन्माद क्रमशः प्रगाढ़ होता गया। निजी धार्मिक-बोध से ही

उसें पूर्ण शांति प्राप्त नहीं हुई। उसने विभिन्न धर्मों का अन्वेषण करना प्रारम्भ किया। धार्मिक बोध के निमित्त गुरु की शरण लेना आवश्यक है! ग्रन्थ के कीट गुरु नहीं कहे जा सकते। भारतीय गुरु आत्म संयमी होते हैं। सत्य के सिवा उनका दूसरा आधार नहीं।—एक इस्लामी फकीर से भेंट हुई। उस देव ने उस फकीर की शिष्यता ग्रहण की। पर थोड़े दिनों के पश्चात् ज्ञान प्रदीप्त हो उठा, "यह उपादेय नहीं। मेरे मस्तिष्क में इससे कहीं अधिक ख्याति का विकाश हो चुका है।"—ईसाई-धर्म के रहस्यों का अन्वेषण किया। यहीं तक नहीं, पर भारत के विभिन्न मत-मतान्तरों का भी पूर्णरूप से अध्ययन किया। हंस की नाईं क्षीर को ले लिया, और नीर को छोड़ दिया। उसने प्रयत्न भर सिद्धान्त की रक्षा की।—अन्त में इसी निर्णय पर पहुँचे, सब धर्मों का केन्द्र एक है। पथ नाना प्रकार के हैं। सब धर्मों एवं सम्प्रदायों का ध्येय एक ही स्थान पर पहुँचना है।

उसे सत्य-धर्म का बोध हुआ,—"साम्प्रदायिक विचारों को नष्ट करो।" आत्मा जातीय झगड़ों से आच्छन्न नहीं। उसके यहाँ नर-और नारी का प्रश्न

ही क्या ? यह तो दैहिक झगड़ा है। सत्य के अन्वेषकों के यहाँ इसका क्या चल सकता है ? नर-योनि में निर्मित वह योगी प्रत्येक पदार्थों में स्त्रैण भाव का अनुभव करने लगा। वह स्वयं वनिता-वेश का पुजारी बन बैठा। उसके लिये पुरुषत्व कोई वस्तु नहीं। नर और नारी में विभेद ही क्या ? उसके मृदुल मस्तिष्क से साम्प्रदायिक विचार सदा के लिये मिट गये। उसकी परिस्थिति ही बिलकुल पलट गयी।

पाश्चात्य प्रदेशों में नारियों की पूजा होती है, लोग उनपर बलिहार जाते हैं, पर सिर्फ इसीलिये, चूँकि वे रूप-यौवन सम्पन्ना हैं। वह योगी देव भी नारियों का भक्त था; पर उसकी नजरों में, प्रत्येक नारी कल्याण सुन्दरी जगतमाता, भगवती के स्वरूप में थी। मैंने अपने नेत्रों से स्वयं देखा है—वह देव नारियों के समूह में खड़ा है। उसपर उनका कोई वश नहीं चलता। वह लकुट की नाईं उनके पैरों पर गिर पड़ता है। शरीर आँसुओं से तराबोर हो जाता है। रोता है, "माता ! उस सूरत में विथियों के अभ्यन्तर परिभ्रमण करती थी; इस सूरत में संसार के अभ्यन्तर—प्रणमस्तुते, जननी प्रणमस्तुते !"—

वह आनन्दपूर्ण जीवन–सांसारिक बन्धनों से रिक्त–!! वहाँ तो नारियों का रूप विकृति हो जाता है। सब भगवती–कल्याण सुन्दरी, आश्रयदात्री !! यही तो हम चाहते हैं !—क्या तुम्हें–विश्वास है कि स्वर्गीय कमनीयता नारियों के पीछे वांछित हो सकती है ? "न भूतो न भविष्यति !"—इसकी दृढ़ता अच्युत है। नास्तिकवाद एवं पाखण्डवाद उसकी दिव्य ज्योति से भस्मीभूत हो जाते हैं। सत्यता, संयमता, पवित्रता का विकास होता है। 'आत्मवाद' की प्राप्ति के निमित्त पवित्रता आवश्यक है।—

उस महान व्यक्ति के यहां, उस अप्राप्य पवित्रता का शुभागमन हुआ। सांसारिक–बन्धनों से मुक्ति मिल गयी। जीवन-काल के तीन-आश्रम व्यतीत करने के पश्चात् "आत्मवाद" का अमूल्य रत्न प्राप्त हुआ। पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त वह योगी प्रचार कार्य में तल्लीन हो गया। उसकी शिक्षाएँ–उसका प्रचार न्यारे ढंग का था। उसने अपने को गुरु नहीं समझा। हमारे देश में महान आत्म–संयमी ही गुरु के योग्य हो सकता है। वह तो पूर्ण ब्रह्म का स्वरूप है। मां-बाप हमें छोड़ देते हैं, पर गुरुदेव तो हमें स्वर्गीय–सोपान

के सुगम-साधन बताते हैं। हम उनकी सन्तान हैं। हमारा निर्माण ही गुरु के आत्मिक-आधार पर हुआ है। हिन्दू अपने असाधारण गुरुदेव के चरणों पर अपनी श्रद्धा की भेंट चढ़ाते हैं, उसकी शिक्षाओं को शिरोधार्य करते हैं।

मेरे गुरुदेव के लिये मान और अपमान दोनों बराबर थे। उसने अपने को कभी "महान-गुरु" नहीं समझा। बस – वह तो एक भगवती मां का अन्ध-भक्त था। वह समझता था, वही जगत जननी मेरे द्वारा संसार का सब कार्य सम्पादन करा रही हैं। 'मैं' कुछ नहीं हूँ. मैं कुछ नहीं करता। मेरे मुंह से शब्द निकलते हैं, मधुर, सुरीले, ओजपूर्ण, भावपूर्ण, रहस्यपूर्ण! पर क्या वे मेरे हैं? नहीं, वे शब्द माता के हैं। वही कल्याण सुन्दरी. जगत–जननी सर्वगुण सम्पन्ना है; मैं? तुच्छ मैं? कुछ नहीं! बिलकुल कुछ नहीं!! सार शून्य!!!"—वह गुरुदेव इस मन्त्र को जीवनपर्यन्त जपता रहा, मृत्युकाल तक! मर गया, साथ लेता गया, स्वर्ग में, पाताल में, त्रिलोक में!!!

उसका ध्येय था,—पहले आचरण प्राप्त करो,

आत्मसंयमता लाओ, परिणाम स्वयं आ उपस्थित होगा।—वह कहा करता था, सरोज के विकसित होने पर, भौंरे मधु-पराग पर स्वयं लोट-पोट करने लगते हैं। तुम भी अपने सरोजरूपी आचरणों को विकसित हो जाने दो। देखना, फल रूपी भौंरे तुम्हारे चरणों पर स्वयं लोट-पोट करने लग जायेंगे।"—यह कैसा महान पाठ है? मेरे गुरुदेव ने मुझे इस पाठ को हजारों बार पढ़ाया है। फिर भी, दुर्भाग्यवश, मैं भूल जाता हूँ।—विचारों की ग्रंथियाँ सुलझ नहीं सकतीं। उस कला को जानने वाले न्यून हैं।—मनुष्य गुफा में प्रवेश करता है—अपने को बड़े-बड़े चट्टानों से ढक लेता है—और एक विचार में—सचमुच महान विचार में निमग्न हो जाता है। पश्चात्, स्वर्ग के लिये पयान कर जाता है।—पर क्या "वह विचार" उसी गुफा के अभ्यन्तर में विनष्ट हो जाता है? नहीं, वह विचार विद्युत शक्ति की भाँति उन महान पर्वत खण्डों को चीरता हुआ बाहर निकलता है, और अन्त में मानव समाज के अभ्यन्तर प्रवेश कर जाता है। यही है निगूढ़ विचारों की शक्ति!—गुरु वही बन सकता

है, जिसके पास सामग्री एकत्रित है। खाली हाथ दूसरों को क्या दे सकते हो ? शिक्षा देना खेल नहीं है। बात चीत करना शिक्षा नहीं है। लेन-देन की शिक्षा से उसे क्या सरोकार ? शिक्षा तो हमें परम पद को पहुँचाने वाली है। आत्मवाद का सहारा लो। शुद्धाचरणी बनो। यही महान कर्त्तव्य है, इसे तुम कर सकते हो। फिर, तुम्हारे लिये कोई दूसरा कार्य अवशेष नहीं रह गया। तुम गुरु बन सकोगे। तुम्हारे लिये शिष्यों का आगमन हो सकेगा। यही मेरे गुरुदेव के सिद्धान्त थे—उन्होंने किसी का खंडन नहीं किया।

मुझे गुरुदेव के साथ वर्षों तक रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पर मैंने उनके ओष्ठों को कभी भी दूसरों के विरुद्ध एक शब्द उच्चारण करते नहीं देखा। उन्होंने सब सम्प्रदायों को एक दृष्टि से देखा। एक ही मनुष्य बुद्धिमान, धर्मात्मा, गोप्य और कर्मण्य हो सकता है, वह विभिन्न धर्मों का प्रतिनिधि बन सकता है, भावी मानव-जाति द्रुतवेग से इसी ओर बढ़ती जा रही है। यही उनका सिद्धान्त था। उन्होंने किसी सम्प्रदाय को कलंकित

नहीं किया, वरञ्च सर्वों में सत्यता का निदर्शन किया।

हज़ारों मनुष्य उस विचित्र योगी के दिव्य एवं मर्मभेदी प्राकथनों को श्रवण करने के लिये आया करते थे। वहाँ भाषा-प्रगाढ़ता का कोई प्रश्न नहीं था। वहाँ था वक्ता का महान व्यक्तित्व! उसी की ज्योति प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट थी। प्रत्येक मनुष्य इसका अनुभव करता है। हम गवेषणापूर्ण सुमधुर भाषणों को श्रवण करते हैं, अकाट्य तर्कों का अनुशीलन करते हैं, पर क्या? हम तो उसे एक क्षण के लिये भी अपने मानस-मन्दिर में स्थान नहीं देते।—हम साधारण भाषा में ग्रंथित ऐसे-ऐसे शब्द सुनते हैं, जो जीवन पर्यंत मेरे संगी-साथी बने रहते हैं, हिस्सेदार बन जाते हैं, और अन्तिम फल की प्राप्ति कराते हैं।—व्यक्तित्व का महान प्रभाव पड़ता है, पर यदि व्यक्तित्व विशालता से आच्छन्न हो! गुरुगण शिक्षा देते हैं, शिष्यगण हृदयङ्गम करते हैं, पर, एक को देने के लिये कुछ सामग्रियों की आवश्यकता है, उसी भाँति दूसरे को उद्गारित हो, शिक्षामृत पान करने के लिये

मानस-मन्दिर के मनोरम फाटक को खोले रहने की !!

वह महान व्यक्ति कलकत्ता के समीप रहने लगा। कलकत्ता यूनिवर्सिटी ! कैसी यूनिवर्सिटी है ? उसने प्रत्येक वर्ष सैकड़ों प्रकाण्ड नास्तिकों एवं जड़वादियों का निर्माण किया है । फिर भी, विभिन्न यूनिवर्सिटियों के प्रकाण्ड विद्वान उसी ज्योति स्वरूप देव के समीप आते, और शिक्षामृत पान करते ! मैंने भी उस व्यक्ति की चर्चा सुनी,— मैं स्वयं गया—वह अकलंक असाधारण व्यक्ति था। उसकी भाषा बिलकुल साधारण थी। मैंने सोचा, "क्या यह उपदेशक है ? सचमुच ??" मैं उसके समीप पहुँचा, और पूछा, "श्रीमान् ! क्या आप ईश्वर में विश्वास करते हैं ?" "हाँ' उन्होंने उत्तर दिया। मैंने फिर पूछा, "क्या इसका प्रमाण दे सकते हैं ?"—"हाँ"--"कैसे ?" 'उसे मैं वैसे ही देखता हूँ, जैसे तुम्हें, सिर्फ ज्योति के रूप में।"— उसने मुझे वशीभूत कर लिया। वह मेरे जीवन का पहला ही व्यक्ति था, जिसने प्रभु का साक्षात् दर्शन किया। वही सत्य धर्म था। उसी में अनन्त

ज्योति थी।—मैं उस व्यक्ति के समीप प्रति-दिन नियमित रूप से आने लगा। मैंने जान पाया, निःसन्देह धर्म का दान दिया जा सकता है।—एक ही स्पर्श-एकही झाँकी ने समूचे जीवन का पट-परिवर्तन कर दिया ;-मैंने बुद्ध भगवान, ईसा-मसीह, मुहम्मदशाह तथा अन्याय महात्माओं की गाथाएँ सुनी थी। वे कैसे घोषणा किया करते थे, "पूर्णाङ्क बनो" और मनुष्य बन जाते थे। मैंने उन देव-वाक्यों को अक्षरशः सत्य पाया। मैंने जब उस ज्योतिर्मूर्ति को देखा, सारी नास्तिकता दूर भाग चली।—मेरे देव कहा करते थे, "धर्म, दुनिया के सारे पदार्थों से कहीं बढ़कर सत्य और प्रेम के साथ दिया और लिया जा सकता है।" प्रथम, आत्मज्ञानी बनो। पास में देने के लिये कुछ रख लो। फिर संसार के सम्मुख खड़े हो जाओ, और अपने संग्रहित पदार्थों को दोनों हाथों से उलीच डालो। धर्म साधारण वस्तु नहीं है। वह जातीयता एवं साम्प्रदायिकता में सन्नद्ध नहीं रहता। उसका सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा से है। व्यवसायी धर्म टिक नहीं सकते। धार्मिक व्यवसाय

से आत्मवाद का विनाश होता है। धर्म का स्वरूप देवालयों, गिरिजाघरों एवं सामाजिक अनुष्ठान प्रक्रिया में देखने को नहीं मिलेगा। वह पुस्तकों, भाषणों एवं संगठनों में विच्छिन्न नहीं रहता। धर्म का स्वरूप "आत्म-प्राप्ति" में मिलेगा।—हम कितना ही तर्क करें, प्राक्कथनों को सुनें—हमें कहीं शाँति नहीं मिल सकती। शाँति तो 'आत्म-निदर्शन' में है। यह कोई कठिन कार्य नहीं, हमें प्रयत्नशील बनने की आवश्यकता है। धर्म की प्राप्ति के लिये "आत्म-त्याग" की पराकाष्ठा दिखानी होगी। सांसारिक उपकरणों का बिलकुल बहिष्कार करना होगा। योग और भोग का सम्मेलन असम्भव है। स्वर्गीय देव और मायावती लक्ष्मी की पूजा एक साथ नहीं हो सकती।—

मैंने गुरुदेव से एक और दूसरा ज्ञानार्जन किया। शायद वह सर्वोपरि आवश्यकीय है। संसार का कोई भी धर्म खण्डन करने योग्य नहीं—वे दोष रहित हैं। वे एक अनन्त-धर्म के विभिन्न स्वरूप हैं। एकही अनन्तधर्म ने सत्य के आधार पर सबों को जीवित रखा है, और सर्वदा उसी अवस्था में रखेगा। धर्म-

विभिन्न प्रदेशों में विभिन्नरूपों से विस्तृत है। हमें उनका सत्कार करना चाहिये; और यथा साध्य अंगीकार भी। धर्म,जातीयता एवं भौगोलिक स्थितियों पर निर्भर नहीं करता। वह व्यक्तिगत शक्ति पर अवलंबित है। किसी ने सांसारिक कार्यों को अपना धर्म बना लिया है, तो, किसी ने पूजा, अनुष्ठान, भक्ति को; किसी ने पाखाण्डवाद अहमन्यवाद को धर्म मान लिया है तो, किसी ने आध्यात्मवाद को। मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिनाम्। किसी पंथ को दोषी कहना उचित नहीं। सत्य एक विशेष में या उसी भांति सबों में निहित रह सकता है। किसी के छिद्रान्वेषण करने के बदले, उसके साथ असीम श्रद्धा रखनी चाहिये। संसार में विभिन्न प्रकृति निर्मित मनुष्य अवतरित हैं। उन्हें तो किसी धर्म-विशेष की सत्यता के लिये विभिन्न तर्कों को उपस्थित करना ही होगा। हमें सहनशक्ति की आवश्यकता है।—परिवर्त्तन में प्रकृति की एकता—रूपों में असीम परिवर्त्तन और उन परिवर्त्तनों के बाद? वही अनन्त, अगोप्य, पूर्ण!! यह सबों के साथ है।—सूक्ष्म जगत मानवों का सूक्ष्म आवागमन है! इन परिवर्त्तनों के द्वन्द

मध्ये अनन्त–समानता प्रधावित होती है। हमें इसे स्वीकार करना पड़ेगा। मैं तो इस एक ज्ञान को सब ज्ञानों से उत्तम एवं ग्रहणीय समझता हूँ। उस देश में जो धार्मिक सम्प्रदायों का विशाल केन्द्र है, प्रत्येक धर्मज्ञानी–सौभाग्य या दुर्भाग्य से, अपने धर्म दूतों को भेजने की लालसा रखता है। मैं अपने शैशवकाल से ही संसार के विभिन्न सम्प्रदायों से परिचत हूं। नौर-मन लोग भारतवर्ष में पहुँचे, और अपने उपदेशों को सुनाये। "उनकी पूजा करो।" इसी अपवित्र आधार पर उनका धार्मिक उपदेश निर्भर है। वहां उनका अस्तित्व और देशों से कहीं विशाल है। यदि तुम हिन्दुओं को राजनीति का पाठ पढ़ाना चाहो, शायद असम्भव हो जाय; पर धर्म के नाम पर–चाहे वह हानिप्रद ही क्यों न हो—तुम्हें हजारों अनुयायी मिल जायेंगे। सम्भव है, जीवनकाल में ही तुम "जीवित-देव" के नाम से सम्बोधित होने लगोगे। मैं इसपर खुश होता हूं। भारतवर्ष में एक ही वस्तु है, जिसे हम चाहते हैं। वह है धर्म। हिन्दू विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त हैं; उनकी संख्या असीम है, फिर भी वे अपने को विभिन्न धर्मों के अनुयायी ही

बतायेंगे। जिस भांति भिन्न-भिन्न नदियां, टेढ़ी या सीधी, विभिन्न पर्वतों से निकलकर, एकही पयोदधि में नीर-सम्मेलन करती हैं। ठीक उसी भांति, विभिन्न जातियां अपने विभिन्न ज्ञानों के साथ उसी अनन्त के समीप पहुँचती हैं।" यह कोरी कल्पना नहीं, साधना है।

एक कहता है मेरा धर्म अंगीकार करो। कारण यह सनातन है। दूसरा भी कह उठता है मेरा धर्म उत्तम है, इसे ग्रहण करो; यह संशोधित नूतन धर्म है।—हमें मानना पड़ेगा, उन लोगों के पास व्याख्या करने की शक्ति एक ही है। तुमने देवालयों या गिरिजाघरों में धर्मों की विभिन्नता का व्याख्या करते सुनी है! वह उनकी धर्मान्धता है। एकही ईश्वर सब लोगों की उत्तर देता है; न मैं हूँ, न तुम—संसार का कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो आत्मा के रक्षण एवं मोक्ष का अणुमात्र भी उत्तरदायित्व अपने सर पर ले सके। वह जगतपति, सर्वशक्तिमान सबों का उत्तरदायी है। मुझे समझ में नहीं आता, मनुष्य अपने को ईश्वर-भक्त कैसे समझते हैं, जब कि उसी ईश्वर प्रदत्त नश्वर शरीर को सत्य माने बैठे हैं, और मानवीय सुख

सौख्य का संरक्षक बनने को लालायित रहते हैं ।—दूसरों के विश्वास में हस्तक्षेप न करो ।—यदि तुम उन्हें कुछ उत्तम वस्तु दे सकते हो, उन्हें अग्रसर बनाने में सहायता पहुँचा सकते हो, तो, बद्धपटिकर होओ, पर, उनके संग्रहीत वस्तुओं को विनष्ट न करो । सात्विक गुरु वही है, जो अपने को विद्यार्थियों के रूप में परिणत कर दे । उसकी आँखें विद्यार्थियों की आंखें हो जाँय। उसके प्राण विद्यार्थियों के प्राण कहलाने लगें। उसका मस्तिष्क विद्यार्थियों के लिये बन जाय । बस, वही गुरु—मन्त्रणा देने के योग्य हो सकता है। उसी को शिक्षाएँ अमूल्य हो सकती हैं। दोषपूर्ण घातक गुरु तुम्हें क्या लाभ पहुँचा सकते हैं ?

गुरुदेव के जीवनकाल में, मैं यह पूर्ण रूप से समझ पाया था, कि इस नश्वर शरीर के साथ भी मनुष्य पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। उस देवता ने किसी के विरुद्ध जिह्वा नहीं हिलायी, किसी का खण्डन नहीं किया। 'उसके दीर्घ नैन अघ-पुञ्जों को पार कर गये थे। जहां देखा, सत्यही सत्य! उसी महान पवित्रता—उसी असीम त्याग में

आत्मवाद का रहस्य विदित है।—वेद भगवान कहते हैं, "अमरता की प्राप्ति धन के बल पर—सन्तान के बल पर नहीं हो सकती; वह तो त्याग—महान त्याग के बल पर प्राप्त होती है।"—ईसा मसीह कहते हैं, "तुम्हारे पास क्या है? बेंच डालो सबों को—देदो दीन-हीन दुखियों को और मेरा अनुकरण करो।"

सब साधु-सन्तों-तपसी-महात्माओं ने इसकी परिपुष्टी की है, और जीवन पर्यंत इसी के अनुसार वर्तते चले आ रहे हैं। महान आत्म-ज्ञान की प्राप्ति बलिदान के बिना—त्याग के बिना—कैसे हो सकती है? त्याग सब धर्मों की अन्तिम-सीमा है। ज्यों ज्यों हमारा आत्म-दमन का भाग कम होता जायेगा, त्यों-त्यों बुद्धिवाद का प्रकाण्ड स्वरूप हमें विमोहित करता जायेगा, और हमारे बीच से आत्मवाद के उन सौरभ मय गुणों का क्रमशः ह्रास होने लगेगा।—वह देव त्याग का साक्षात स्वरूप था। सन्यासियों को धन-जन, रूप-लावण्य, बल, वैभव, आसन-ख्याति सबों का परित्याग करना पड़ता है। मेरे गुरुदेव ने इन सब बातों का अक्षरशः पालन किया था। यदि वह गुरुदेव कभी भी इच्छा करता, तो उसके पैरों में

लाखों बहुमूल्य रत्नों की भेंट चढ़ जाती; इस प्रक्रिया के लिये हज़ारों मनुष्य लालायित रहते थे—पर, वह तो ऐसे मनुष्यों से बात भी करना नहीं चाहता था। वह विजय का उदाहरण था—कामिनी काञ्चन के विजेता का जीता-जागता स्वरूप था। वह एक सिद्धान्तवाद से परे था। आजकल इस त्याग की अत्यन्त आवश्यकता है; जब कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना थोड़े दिनों तक भी स्थिर नहीं रह सकते। उनकी आवश्यकताएं व्यवहार गणित की रेखाओं के सदृश्य बढ़ती जा रही हैं। इस परिस्थिति में यह आवश्यकीय कार्य हो गया है कि प्रत्येक मनुष्य संसार के जड़वादियों को घोषित करते हुए कह दे, "संसार में ऐसा व्यक्ति भी जीवित है, जो कामिनी-काञ्चन की अणुमात्र भी परवाह नहीं करता।" ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं।

मेरे देवता का पहला आश्रम सिर्फ आत्मज्ञान की प्राप्ति में ही व्यतीत हुआ था; पर उसके पश्चात्, जीवनपर्यन्त, उन ज्ञानों को दान रूपमें दूसरों को देते ही रहे। जन-समुदाय उनके चारो ओर एकत्रित

होता, और उनके उपदेशामृत का पान करता। वे चौबीस घंटे के दिन-रात में बीस घंटे उन मनुष्यों के लिये निकाल देते। उनकी यह क्रिया तबतक द्रुतवेग से चलती रही, जबतक उनका शरीर रोग के भीषण प्रहार से जर्जरित और क्षय नहीं हो गया। धीरे-धीरे उनका कण्ठाग्र मर्म-वेदना से आच्छादित हो गया। फिर भी, अपने कृत्यों को भूल नहीं सके। ज्योंही उनके कर्ण-कुहर जन-समुदाय की ध्वनि से ध्वनित होते, उनकी आँखें खुल जातीं—उन्हें प्यार से आसन देते—और उनके सारे प्रश्नों का समुचित उत्तर दे, सान्त्वना देते। उनके लिये चैन कहां? एक बार किसी ने पूछा, "देव आप तपस्वी हैं। क्यों नहीं अपने शरीर की ओर कुछ भी ध्यान देते, और इस भीषण रोग से निवृत्त होते।" उस देव ने कुछ उत्तर नहीं दिया। पर बारम्बार दुहराने के पश्चात् एक नम्रध्वनि निकल उठी, "मित्रवर! मैंने तुम्हें योगी समझा था, पर तुम सांसारिक-मनुष्यों की भांति बातें कर रहे हो। यह—मस्तिष्क इस स्वामी के चरणों पर अर्पण कर दिया है। क्या तुम यही चाहते हो कि मैं इसे पीछे लौटा लूं; और इस नश्वर

शरीर पर रख लूँ—जो इस आत्मा के रखने के लिये सिर्फ एक पिंजड़ा है ?"

जब मनुष्यों ने यह जाना कि ज्योतिर्विद् सन्यासी की अन्तिम घड़ियां व्यतीत हो रही हैं तो वे झुण्ड-के-झुण्ड उनके चारो ओर मरड़ाने लगे; और उनसे नाना प्रकार के प्रश्न पूछने लगे। देवता ने सबों का उत्तर दिया। उनका कहना था, "जब तक ध्वनि निकलती है, ज्ञान का दान देने दो।" वह शुद्ध-सनातन था। एक दिन कह डाला, "उस······ दिन मैं प्रभु की सत्ता में निमग्न हो जाऊँगा। समय आ गया, वह ज्योति-स्वरूप वेद-मन्त्रों को ध्वनित करते हुए समाधिस्थ हो गया! प्रभु का स्वरूप हो गया! उसकी सत्ता में विलीन हो गया!!

वह विलीन होगया ?—उसके सन्देश—उसके ज्ञान विलीन नहीं हुए!—उन संदेशों को दिग्दिगन्त में गुँजरित करने के लिये, वह देव, ज्योति का अवतार देव-अपने कुछ नव निहालों को छोड़ गया।—देव—निर्मित नवनिहाल बद्ध-परिकर हो गुञ्जार करने लगे। उनके वेगों को रोकने के लिये अत्यन्त शक्ति लगायी गयी।

पर, वे युवक—धर्म के नवनिहाल, गुरु देवकी, जीवन-ज्योतियों को जताते हुए अग्रसर होते गये।—वर्षों के बाद वे अपने ध्येय पर पहुँचे। वे नवयुवक सन्यासी के रूप में थे। द्वार-द्वार का भिक्षाटन करना और गुरुदेव के सन्देशों को जिधर-तिधर फैलाना ही उनका एक मात्र काम था। सर्व प्रथम उन्हें जड़वाद का सामना करना पड़ा। वे अपने देवता के कार्य में तन्मय रहे—अग्रसर होते गये, और शनैः शनैः उस देवता के सन्देशों को भारतवर्ष भर में फैला दिये।

आज भारतवर्ष में स्वामी रामकृष्ण परमहंस का नाम लाखों आदमी जानते हैं। पर नहीं; उन पूर्ण शक्तिमान देव की ज्योति भारतवर्ष के बाहर भी देदीप्यमान है। विदेशों में, आत्मज्ञान के निमित्त, मेरे द्वारा बोले गये शब्द, मेरे नहीं, उन्हीं के हैं, सिर्फ अशुद्धियाँ–बुराइयाँ ही मेरी हो सकती हैं।

वर्तमान संसार के लिये स्वामी रामकृष्ण परमहंस का यही संदेश है, "शिक्षा की चिन्ता न करो। देवालय, गिरिजाघर, जात-पांत कोई वस्तु नहीं। मनुष्य की सत्य-ज्योति—"आत्मज्ञान"

की तुलना में कोई भी वस्तु नहीं के बराबर है। वह सद्गुणों की महान शक्ति है।—उसे प्राप्त करो। किसी दूसरे के खण्डन-मण्डन से तुम्हें क्या सरोकार? सब विधि-विधानों के अभ्यन्तर में सत्य का स्वरुप, किसी न किसी अंश में छिपा रहता है। धर्म कोई नाम, शब्द या जाति नहीं; वह तो आत्म-ज्ञान है। त्यागी पुरुष ही उसका अनुभव कर सकता है। आत्म-ज्ञान ही उसे दूसरों के कानों में प्रविष्ट करा सकता है। वही—सिर्फ वही—ज्योति की शक्ति है!

मेरे देवता का सन्देश मनुष्यों के लिये यही था, "आत्मज्ञानी" बनो! सत्य को अपनाओ।"—त्यागी बनो, समय प्रतीक्षा कर रहा है! आत्म-ज्ञान के प्राप्त होते ही सब धर्मों का स्वयं सम्मेलन हो जायेगा। उस समय,—कहीं भी विद्वेष न होगा। तुम मनुष्य की रक्षा के निमित्त कटिबद्ध हो जाओगे। मेरे देवता का प्रधान सन्देश सर्व धर्मों का एकीकरण ही था। सब सुधारकों—उपदेशकों ने अपने अपने नूतन धर्मों की स्थापना की है, उनके नामकरण किये हैं; पर मेरे गुरुदेव इस सिद्धान्त के विमुख—विपरीत थे। उन्नीसवीं शताब्दी का वह योगी अपने को कुछ नहीं

समझा"—अहम्मत्व का ध्यान स्वप्न में भी नहीं किया। उसने किसी धर्म का खण्डन नहीं किया। क्यों करे? उसे तो पूर्णता की प्राप्ति हो चुकी थी। सचमुच विभिन्न धर्म, उसी एक अनन्त-धर्म के विभिन्न छोटे बड़े अवयव हैं।—
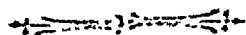
कर्म-योग

(न्यूयार्क के क्लास-लेसन में लिखे गये नोट)

१२ दिसम्बर १८९५

कर्म-योग

संस्कृत के सांख्य-शास्त्र के अनुसार प्रकृति तीन गुणों में विभाजित है, सतोगुण, तमोगुण और रजोगुण !—सतोगुण के द्वारा आत्मदमन में सुगमता होती है, शांति मिलती है, परम-पद की प्राप्ति में अग्रसर बनाती है । तमोगुण मनुष्य को अन्धकार में फँसाता है, अकर्मण्य बनाता है और रजोगुण सत्य कार्यों से घृणा उत्पन्न कराता है, एवम् व्यसन आदि-मायावी कृत्यों का दास बनाता है ।—ये त्रिगुण प्रत्येक प्राणी में व्याप्त रहते हैं । तीनों के अनुसार प्राणीमात्र चला करता है ।

कर्म-योग उपरोक्त तीनों पदार्थों से सन्निकट-सम्पर्क रखता है। वह हमें उनके कृत्यों से अवगत कराता है, और उनके साथ विहार करने का सुगम साधन बताता है। वह हमारे सत कर्मों का सहायक है।—मानव-समाज सुव्यवस्थित एवं संगठित है। उसके विभिन्न जाति-विधि-स्वरुप हैं। आदर्श क्या है, कर्त्तव्य क्या है, हम भली भांति जानते हैं, पर इसका क्या उत्तर? विभिन्न देशों में आदर्श के विभिन्न स्वरुप दिखायी पड़ते हैं। एक देश का आदर्श, दूसरे देश के लिये दोषपूर्ण है—त्याज्य है। उदाहरणार्थ, एक देश में चचेरी या फूफेरी बहन से विवाह करना धर्म संगत माना जाता है; पर दूसरे देश वैसा करना अधर्म-पूर्ण समझते हैं। एक देश मनुष्य मात्र के लिये एक ही विवाह करना उचित बतलाता है, पर दूसरे सैकड़ों की गिनती लगा देते हैं। इसी भाँति भिन्न-भिन्न आदर्श, भिन्न-भिन्न प्रदेशों में, भिन्न-भिन्न स्वरुपों के साथ आविर्भूत हैं। विभिन्न आदर्शों का बाहुल्य है, सही; पर हमें तो वैसे ज्ञान उत्पन्न करने की आवश्यकता है, जिसके द्वारा हम विश्व भर का एकही आदर्श झंडा खड़ा कर सकें।

कर्त्तव्य--(कर्म) के साथ भी यही बात है। विभिन्न राष्ट्रों के साथ विभिन्न कर्त्तव्यों का स्वरुप दृष्टिगोचर होता है। किसी देश विदेश का अधिवासी, यदि वहां के नियमों का उलङ्घन करता है, तो, वहां के लोग अविलम्ब कह उठते हैं, उसने भयंकर भूल की है। पर यदि अन्य देशाधीनस्थ होने पर भी, वह अपने देश के कृत्यों को करता है तो, वहां के लोग उसे अच्छा कहने लगते हैं।—फिर भी, सांसारिक-ज्ञान-सिद्धान्त--विचार की अत्यन्त आवश्यकता है।—सामाजिक शृङ्खलाएं भी वैसी ही हैं। एक सोचता है, अमुक वस्तु सामाजिक नियमों से परे है, तो अमुक उसका खण्डन करता है, और उसके कृत्यों के लिये उसे भयाकुल करता है।---

हमारे लिये दो पथ हैं "एक परम्परा पथ, द्वितीय परिवर्त्तन पथ। परम्परा पथ वाले एक ही पथ का अनुकरण करते हैं। वे उन्हें छोड़ नहीं सकते। उनके ध्यानमें अन्य पथ पाखण्डपूर्ण—झूठे हैं। परिवर्त्तन पथवाले मांसिक स्थिति पर धर्म का निर्माण करते हैं। तात्पर्य यह है कि धर्माचरण एवं कर्त्तव्य विभिन्न कक्षाओं में विभक्त हैं। मनुष्य जीवन भी एक दशा में

जिस कर्त्तव्य का पालन कर सकता है, उसी कर्त्तव्य को दूसरी दशा में-दूसरे समय में नहीं कर सकता। स्पष्टीकरण के हेतु निम्न उदाहरण पर्याप्त होगा।— सब धर्म गुरुओं ने बतलाया है, "बुराइयों को न छेड़ो—उसकी ओर ध्यान न दो।"—"बुराइयों से छेड़खानियाँ नहीं करना, अत्युत्तम आदर्श है।"— हम इसे सुनकर आश्चर्यचकित होंगे।—यदि वर्तमान परिस्थिति में मनुष्य इस नियम का प्रतिबन्ध करे तो, निश्चय ही सामाजिक नियम चकनाचूर हो जायेंगे-समाज विनष्ट हो जायेगा-हिंसक एवं घातक मनुष्यों की बन आयेगी-वे हमारी सम्मति का अधीश्वर हो जायेंगे-सम्भवतः हमारा जीवन भी समाप्त हो जायेगा। एक दिन के लिये भी बुराइयों को स्वतन्त्र छोड़ देना, समाज को अन्तिम नाश-घड़ी की ओर द्रुत-वेग से बढ़ाना है।-फिर भी, हृदय के अन्तर्ज्ञान से यह अनुभव होने लगता है-गुरु मंत्र की सत्यता मालूम होने लगती है— "बुराइयों का सामना न करो।"—यही सर्वोत्कृष्ट आदर्श मालूम होता है। फिर भी इसी—सिर्फ इसी दीक्षा को प्रचार करना, मानवीय अपरिसीम-

समानता की स्वीकृति देने के बराबर ही होगा ! सिर्फ यहीं तक नहीं. बल्कि. मनुष्यों के मन में यह पूर्ण धारणा हो जायेगी कि वे लोग झूठे हैं, उनके कर्त्तव्य झूठे हैं—वे हमारे कर्त्तव्यों को पूर्ण जोश के साथ कलंकित कर देने में तुल जायेंगे। - वैसे ही आत्म-अविश्वास और आत्महास, अन्य अवगुणों से कहीं अधिक धार्मिक शिथिलता पैदा करेंगे। जिसने आत्म-ग्लानि की, उसके लिये पतन का फाटक खुल गया !—यही समूचे राष्ट्र के साथ है।

हमारा प्रधान कर्त्तव्य यही है, "हम आत्म-ग्लानि न करें-अपनी घृणा न करें।"-अग्रसर होने के लिये-उत्थान करने के लिये-हमें सर्व प्रथम अपने में विश्वास रखना होगा, उसके पश्चात् ईश्वर में। जिसके पास आत्म-विश्वास नहीं, वह ईश्वर पर क्या विश्वास कर सकता है ?—मनुष्य के लिये उसी आचरण एवं कर्त्तव्य के संगठन का विकल्प आव-शेष रह गया है।—

तुममें से बहुतों ने भगवद्‌गीता का पाठ किया होगा। पहले अध्याय के उस भागको देखकर तुममें से बहुत आश्चर्य-चकित हुए होंगे, जहाँ भगवान

कृष्ण ने अर्जुन को, युद्ध से विमुख होने पर, पाखण्डी कायर आदि के नाम से सम्बोधित किया है।—उसके प्रतिवादी–शत्रु–उसके मित्र और कुटुम्ब थे—उसने युद्ध से विमुख होने का कारण यही बतलाया, "बुराइयों से मुठभेड़ नहीं करना, प्रेम का सर्वोच्च आदर्श है।"

संसार के सब पदार्थों में दो वस्तुओं की असीमता है। परिवर्त्तन एवं अपरिवर्त्तन की, सत्य एवं असत्य की, चल एवं अचल की। वे दोनों समान–परिधि के हैं। यदि प्रकाश अपने धीमेपन की सीमा को पार कर जाता है–हम उसकी सूरत नहीं देखते। यदि वेग के साथ प्रदीप्त होता है; सीमा-उल्लङ्घन के पश्चात् उसे भी आँखें देखने से असमर्थ हो जाती हैं।—ध्वनि क्या कहती है?—कान नहीं सुनते–उसने धीमे-स्वर की असीमता प्राप्त कर ली है। पर यह क्या? यह तो दामिनी-विनिन्दित ध्वनि है—फिर भी हम नहीं सुन पाते–क्या ध्वनि से निकला? दमन और अमन को प्रकृति ही दो भागों में विभक्त करती है।—वह दमन नहीं कर सकता; निर्बल है, सुस्त है; इच्छा रहते हुए भी वह नहीं कर सकता। दूसरा दमन कर

सकता है, जब चाहे शत्रु को घूसे से चोट पहुँचा सकता है, पर नहीं करता; दया कर देता है। वह, जिसने निर्बलता से पापों का दमन नहीं किया, पापी है, सचमुच पापी है—वह उस दमन से कोई लाभ नहीं प्राप्त कर सकता। दूसरा भी अवश्य पाप करता है, पर इन्द्रियों को दमन करते हुए!—भगवान बुद्ध ने सिंहासन को लात मार दिया—अपनी स्थिति का विनाश कर दिया। वही सच्चा इन्द्रिय-दमन था। वह भिक्षुक क्या छोड़ सकता है, जिसका कोई अस्तित्व नहीं?—सर्व प्रथम हमें यह पूर्ण निश्चय कर लेना चाहिये, कि हमारे पास दमन करने की शक्ति है या नहीं! यदि हमने शक्ति संचय कर रखा है—वैसी हालत में दमन करते हैं; निःसन्देह प्रेम—शुद्ध-प्रेम के हम प्रबल प्रचारक हैं। पर, वह तो धर्माचार के—सत्कर्मों के बिलकुल विरुद्ध करता है, जो आत्म-दमन की शक्ति नहीं रखते हुए भी, दूसरों पर ढोंग—पाखण्ड के द्वारा, अपने 'दमन' की प्रशंसा करता फिरता है।—मायावी सजावट के सम्मुख, अर्जुन कापुरुष बन गया। उसके मोह ने देश और राजा के विरुद्ध अकर्मण्यता पैदा कर दी। यही कारण

हुआ. श्रीकृष्ण ने उसे पाखण्डी के नाम से सम्बोधित किया। "तुम्हारे वार्तालाप बुद्धिमानों के सदृश हैं, पर तुम्हारे कृत्य कायरों के हैं। उठो, और युद्धक्षेत्र में पदार्पण करो।"

कर्मयोग का यही प्रधान उद्देश्य है। सच्चा कर्मयोगी बुराइयों से पराङ्मुख रहता है। उसे बुराइयों से मुठभेड़ करने की कहां फुर्सत ? उसकी दृष्टि में बुराई है ही कहां ?—इस महान आदर्श को प्राप्त करने के पूर्व, मनुष्य को बुराइयों से मुठभेड़ करने की आवश्यकता है। सीधे होकर—तनकर मुठभेड़ करो ! पर—यदि तुम्हारे पास दमन करने की शक्ति है, तो, बुराइयों से परांगमुख रहना ही तुम्हारे लिये धर्म होगा !

एकबार मुझे अपने देश में एक मनुष्य से भेंट हुई। वह दुष्ट एवं मूर्ख था। वह कुछ नहीं जानता था, और न जानने की इच्छा ही रखता था ! वह असभ्य-बिलकुल असभ्य था ! उसने मुझसे पूछा, "क्या मैं परमात्मा को पा सकता हूँ ? मुझे मुक्ति कैसे मिलेगी ?" मैंने पूछा, "क्या तुम झूठ बोल सकते हो ?"—उसने उत्तर दिया, "नहीं"—"तुम्हें

यह सीखना चाहिये । जंगली, असभ्य, अकर्मण्य बनने से, झूठा बनना कहीं श्रेयस्कर है ! तुम पतन के गहरे गर्त में विलीन हो चुके हो ! तुम्हें निर्मलता, सान्त्वना और कर्मण्यता कहां प्राप्त हो सकती है ?" —वह असाध्य रोग था ! उसके लिये मेरा आदेश कौतुहलपूर्ण था !—मेरे कहने का उद्देश्य क्या था ? कर्त्तव्यनिष्ठ बनो ! कर्म ही शान्ति-प्राप्ति का एक मात्र साधन है, अकर्मण्यता को हर प्रकार से तिलांजलि दो । कर्त्तव्य का अर्थ है, "आत्म-दमन" । बुराइयों की ओर ध्यान न दो ! शारीरिक एवं मानसिक बुराइयों पर अधिकार करो ! जब तुमने बुराइयों के दमन करने में सफलता प्राप्त करली–फिर तुम्हारे लिये दमन करना बाकी ही क्या रह गया ? तुम दमन के परे हो गये ! तुम्हें शांति मिल गयी ! यह कहना कितना साधारण है कि, "किसी के प्रति घृणा प्रकट न करो ! पापों का दमन करो !"—समाज की आंखें, जब मेरी ओर दौड़ जाती हैं–कैसा तमाशा है; हम पाखण्ड की ओट में दिखाने लगते हैं—हम पापों को क्या जाने–हमें बुराइयों से क्या सम्बन्ध ? पर, दुख है, हमारे हृदय में सर्वदा पाप-पुञ्ज निवास करते रहते

हैं—हम उनके साथ हठखेलियां करते रहते हैं—क्रीड़ा करते रहते हैं! कैसी सूझ है? हम अशान्ति के रूप में शान्ति की चरम-सीमा पर पहुँचना चाहते हैं?—हमारे लिये कैसा बढ़िया साधन है, "बुराइयों का दमन करना"!!—तुम अर्थोपार्जन के पीछे पागल बन जाते हो। उसकी प्राप्ति के लिये अनवरत परिश्रम करते हो, पर जब तुम्हें मालूम हो जाता है कि सारा संसार अर्थ के भिक्षुकों को अधर्मी कहने पर तुल गया है, तब तुम भी अपने पैरों को पीछे खींच लेते हो, सिर्फ दिखाने के लिये, जिसमें तुम्हें लोग महान त्यागी समझें, पर क्या तुम्हारे हृदय से प्रलोभन मिट जाता है? नहीं! यही तो वाह्याडम्बर है! इसके द्वारा तुम्हारा उपकार नहीं हो सकेगा।—संसार में कूद पड़ो; पश्चात्, थोड़े समय के पश्चात्, जब तुम सांसारिक विलासों को भोग चुकोगे, और उसे बिलकुल झूठा—निःसारपूर्ण समझ सकोगे, उस परिस्थिति में तुम्हारे सामने क्या दृष्टिगोचर होगा? वही महान त्याग—अपूर्व शांति!! एतदर्थ, सर्व प्रथम कामनाओं की परिपूर्ति कर लो—एक भी छूटने न पावे? पश्चात्, तुम स्वयं अनुभव करने लगोगे, ये

सब छोटी चीजें हैं—संसार झूठा है, उसके अवयव झूठे हैं। कामनाओं की परितृप्ति किये बिना—उनके भयंकर द्वन्दों के मध्य पड़े बिना—यह कभी भी सम्भव नहीं कि हम उस महान शांति—जिसका निर्माण अपूर्व एवं पवित्र त्याग के द्वारा हुआ है, प्राप्त कर सकें'—आत्म दमन के उच्चतम एवं शांति प्रदायक उपदेश हजारों वर्षों से मानव समाज के मध्य दिये जाते हैं—प्रत्येक व्यक्ति उन्हें अपने शैशवकाल से ही श्रवण करते आ रहे हैं—फिर भी वे बहुत न्यून दिखायी पड़ते हैं, जिन्होंने 'पूर्णता' की प्राप्ति की हो! मैं आधे संसार को देख चुका हूं, फिर भी मैंने बीस—सिर्फ बीस मनुष्यों से अधिक मनुष्यों को, सात्विक रूपेण, कामनाओं पर विजय प्राप्त करते एवं शांति के सच्चे स्वरूप बनते नहीं देखा।—

शांति की प्राप्ति के हेतु प्रत्येक मनुष्य को अपने आदर्श एवं कर्त्तव्य में तल्लीन हो जाना चाहिये। उत्थान का यही सुगम-साधन है। दूसरों के आदर्शों का अनुकरण क्यों करते हो? वे तुम्हारी पूर्णता की प्राप्ति में कुछ भी सहायता नहीं पहुँचा सकते। उदा-

उदाहरणार्थ, एक बच्चे को लो, और उसे शीघ्र ही बीस माइल चलने का पाठ पढ़ाओ, फल क्या निकलेगा? या तो वह मृत्यु के कराल गाल में सर्वदा के लिये विनष्ट हो जायेगा, या संज्ञा विहीन हो, मृतवत् पड़ा रहेगा!–हम भी ऐसाही कृत्य संसार के साथ करना चाहते हैं, किसी सम्प्रदाय या समाज के नर या नारियां एकही परिस्थिति की नहीं हुआ करतीं। सबों के आदर्श को लांछित करना उचित नहीं है! प्रत्येक मनुष्य को अपने आदर्श की प्राप्ति करने का पूर्ण अधिकार है। हमें तुम्हारा न्याय करने का कोई अधिकार नहीं, उसी प्रकार तुम भी मेरा काम नहीं कर सकते! माजूफल का ज्ञाता सेव के वृक्ष का क्या फैसला कर सकता है? उसके लिये उसी का ज्ञाता होना चाहिये। उसीप्रकार माजूफल को भी समझिये।

"विभिन्नता में एकता"–यही तो सृष्टि का नियम है–भले ही नर-नारियों के व्यक्तित्व में विभिन्नता हो; पर सबों की अन्तिम सीमा पर एकता परिव्याप्त है–सृष्टि के नियमानुसार नर-नारियों के विभिन्न वैयक्तिक धर्माचारों एवं कक्षाओं में प्राकृतिक विभिन्नताएं विक्षिप्त रहती हैं।–इसलिये हमें सबों को एक ही

न्याय पर नहीं कसना होगा, सबों के आदर्श एक नहीं हो सकते! ऐसे कर्म अप्राकृतिक-द्वन्द्वों का निर्माण करते हैं—मनुष्य स्वयं अपनी घृणा करने लगता है, और अपने को शुद्धाचरणी एवं सात्विक धर्मी बनाने में सकुचाने लगता है।

उपरोक्त धार्मिक सिद्धान्त हिन्दू रीत्यानुसार नये नहीं, अति प्राचीन हैं। हिन्दू धर्म ग्रंथों में विभिन्न वर्गीय मनुष्यों के लिये विभिन्न क्रियाएँ अंकित हैं। हिन्दू धर्म ग्रन्थों के अनुसार वैयक्तिक कर्म भी विभिन्न होते हैं। हिन्दुओं का जीवन विद्यार्थी काल से प्रारम्भ होता है। विवाह करने के पश्चात्, वह काल समाप्त हो जाता है, वह गृहस्थ कहलाने लगता है।—वृद्धावस्था में वह संसार का त्याग करता है, और सन्यासी की सूरत में परिणत हो जाता है-प्रत्येक आश्रमों के साथ, कुछ मुख्य-मुख्य कर्त्तव्यों का सम्मिश्रण रहता है।—किसी आश्रम विशेष का मनुष्य, दूसरे से बड़ा नहीं हो सकता। उस विवाहित मनुष्य का जीवन उतना ही बड़ा और मूल्यवान है, जितना एक अविवाहित का; जिसने अपने जीवन को शुभ कर्मों में लगा दिया

हो—सिंहासनाधिस्थ नृपति गली-कूचे के मेहतर से कभी भी बड़ा और प्रतिभाशाली नहीं है।—उस नृपति को सिंहासन से उतार डालो, और उसे उसी मेहतर का काम सम्पादन करने के लिये परामर्श दो; वह कैसा साफ करता है? उसी भाँति उस मेहतर को उसी सिंहासन का अधिपति बनाओ, देखो तो, वह कैसा शासन करता है? यह कहना कैसा भ्रम-पूर्ण है, कि संसार-त्यागी मनुष्य (सन्यासी) गृहस्थ से कहीं-ऊँचा है। संसार को परित्याग कर, स्वतन्त्र-रूपेण, शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करने से. यह तो कहीं दुष्कर है; "संसार में रहते हुए, प्रवञ्चनाओं को पार करते हुए, परम पिता परमेश्वर की सत्ता में निमग्न रहना।"

जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का सार दो ही कक्षाओं में विभक्त हैं; एक गृहस्थवर्ग, दूसरा उपदेशक वर्ग। गृहस्थ वैवाहिक-सम्बन्धों को संस्थापित करते हुए, नागरिक के नाते कर्त्तव्यों के बोझ ढोते फिरते हैं; और उपदेशक, सत्कर्मों के उपदेश देने तथा परमात्मा के अनुष्ठान में निमग्न रहते हैं।—अब तुम स्वयं अनुभव कर सकते हो कि किसका जीवन

अत्यन्त कठिन है।—"महा निर्वाण तन्त्र" के कथनानुसार मनुष्य को गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर, उसके सारे नियमों को उचित रूपेण परिपालन करते हुए, जीवन यापन करना, अत्यन्त दुष्कर एवं दुरूह कार्य है।—

"गृहस्थ को ईश्वर के अनुष्ठान में तन्मय रहना चाहिये; उसके जीवन का एक मात्र ध्येय परमपिता की चिन्तना करना ही होना चाहिये। फिर भी उसे कर्त्तव्य को भूल नहीं जाना चाहिये। उसे दत्त-चित्त हो कर्त्तव्यों का सम्पादन करना चाहिये। हाँ, जो कुछ भी करे; उसे ईश्वरार्थ करे।'

संसार में यह कैसी असम्भव बात है; कर्त्तव्य किये जाओ, फल की कांक्षा न करो, पर—उपकार करो, पर उसकी सहानुभूति की प्रतीक्षा न करो; सत्कर्मों में तल्लीन रहो, पर अपने यश—गौरव, मान-प्रतिष्ठा की ओर भूलकर भी ध्यान न दौड़ाओ?—बुजदिल से बुजदिल भी प्रशंसा के फेर में पड़कर अपने को बहादुर समझने लगता है। मूर्ख से भी मूर्ख शूरता में सन्नद्ध हो जाता है; जब कि समाज उसे प्रशंसित करने लगता है।—जो सत्कर्मों में

नियमित रूपेण तल्लीन रहता है, परिचितों-मित्रों कुटुम्बियों-परिजनों की स्वीकृति की प्रतीक्षा एवं चिन्ता नहीं करता, निःसन्देह वही महान आत्मा है, उसने त्याग की अपरिसीम मात्रा दिखा दी। गृहस्थ का प्रधान कर्त्तव्य भरण-पोषण का समुचित प्रबन्ध करना है, पर ध्यान रहे, सामग्रियों के संग्रहार्थ प्रवञ्चना की शरण लेना उचित नहीं। तुम झूठ बोलकर, धोका देकर, डाका डालकर, अर्थोपार्जन की कामना क्यों करते हो ? तुम्हारा जीवन तो परमात्मा की सेवा के निमित्त है, तुम्हें उसे निर्धनों एवं असहायों की सेवा में लगाना होगा।

माता और पिता परमात्मा के साक्षात् प्रतिनिधि हैं, गृहस्थ को उन्हें प्रसन्न रखने के लिये हर प्रकार से चेष्टा करनी चाहिये—यदि मां-बाप उससे प्रसन्न हैं, तो निःसन्देह परमात्मा भी—प्रसन्न होंगे। वही बालक सुन्दर एवं प्रशंसनीय है, जो अपने मां-बाप को भूलकर भी कटु शब्द नहीं कहता !

"मां-बाप के सम्मुख व्यङ्गोक्तियां उच्चारण करना, निरंकुशता एवं रोष प्रकट करना कभी उचित नहीं। बालकों को अपने मां-बाप के सामने सर-

झुकाना चाहिये, उनको प्रतिष्ठा करनी चाहिये, उनकी आज्ञा पाये विना, उनके सामने बैठना नहीं चाहिये।"

"यदि गृहस्थ अपने ही असन वसन, खान-पान में व्यस्त रहता है, आनन्दित रहता है, और अपने मां-बाप, स्त्री-बच्चों, निर्धन-असहायों की चिन्ता नहीं करता तो निःसन्देह वह पाप करता है।—मां-बाप ही इस नश्वर शरीर के नियामक हैं। मनुष्य को उनकी भलाई के निमित्त कष्टों को सहन करने की आवश्यकता है।—"

"अपनी स्त्री के प्रति भी उसका वही कर्त्तव्य है। अपनी स्त्री को कभी कलंकित नहीं करना चाहिये। सर्वदा उसकी देख-भाल करते रहना चाहिये। कष्टों से अच्छादित रहने पर भी, गृहस्थ को अपनी स्त्री के साथ बुरा वर्ताव नहीं करना चाहिये।

"जो अपनी स्त्री को छोड़,परायी स्त्री के विषय में सोचता है, अपने मस्तिष्क में उसके लिये अणु-मात्र भी चिन्तना करता है, निःसन्देह वह नरक का भागी है। निर्जनावस्था में भी पर-स्त्री का स्पर्श करना—उसके वस्त्रों तक का स्पर्श करना अधर्म है।

पर-स्त्री का वस्त्र, चाहे वह परोक्ष में ही क्यों न हो— स्पर्श करना, असंगत, अन्याय और अनुचित है।

"'महिलाओं के सम्मुख अप-शब्दों का उच्चारण नहीं होना चाहिये। अपनी शक्तियों की डींग हांकना अच्छा नहीं। मनुष्य को कभी नहीं कहना चाहिये, 'मैंने यह किया है, मैंने वह किया है।'"

"गृहस्थ को चाहिये कि वह अपनी भार्या को, धन-दौलत, वस्त्र-भूषण, प्यार-प्रीति, विश्वास और विभिन्न मनोरञ्जक कृत्यों के द्वारा प्रसन्न रखे। स्त्रियों को छेड़ना अच्छा नहीं। जिसने अपनी शुद्ध, निर्मला भार्या के साथ अनुपम प्रेम करने में सफलता पायी, निःसन्देह उसने धर्मिक सफलता प्राप्त करली— सारे धर्म उसी के हो गये।

बच्चों के प्रति कर्त्तव्य क्या है? उसकी देख भाल कम से कम चार वर्ष की अवस्था तक पूर्ण सावधानी के साथ होनी चाहिये। उसके भरण— पोषण का खूब ध्यान रहे। पश्चात् पाठ गृह में— अध्ययन के निमित्त भेज देना चाहिये। बीस वर्ष की पूर्ण आयु प्राप्त लड़के को छोटा बच्चा समझना, पिता का धर्म नहीं। अब तो वह उसका मित्र बन गया,

समकालीनता प्राप्त की, वह भी गृहस्थ बन गया। कन्याओं के लिये भी वही साधन उपादेय है। उसके भी भरण पोषण का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये, उसे सभ्य बनाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये, और विवाह के पश्चात् पिता को उसे सम्पति एवं भूषणों का पूर्ण दान देना चाहिये।

"उपरोक्त कर्त्तव्य-समाप्ति के पश्चात्, गृहस्थ के लिये दूसरा कर्त्तव्य अवशेष रह जाता है, निर्धन भाइयों बहनों, उनके बाल-बच्चों कुटुम्बियों, मित्रों तथा अनुचरों की भलीभांति देख-रेख एवं उचित रूपेण सेवा सुश्रुषा करना! यदि इस कर्त्तव्य की भी समाप्ति हो चुकी, तो आगे के लिये कर्त्तव्य बाकी रह जाता है, जन्मभूमि की सेवा करना, निर्धनों की सेवा करना, असहायों की सेवा करना। साधन की प्रचुरता रहने पर भी, यदि गृहस्थ अपने परिजनों, निर्धन-असहायों की समुचित सेवा नहीं करता, तो समझना चाहिये, वह सभ्य नहीं, असभ्य है, मनुष्य नहीं, पशु है?

"खाद्य पदार्थों के लिये अत्यन्त चिन्तित रहना, वस्त्रों की सजावट के पीछे पागल बने रहना, अह-

मन्यता में डूबे रहना, नश्वर शरीर की सुन्दरता के लिये लालायित रहना, सर्वदा त्याज्य है! गृहस्थ का हृदय परम पवित्र होना चाहिये, उसका शरीर स्वच्छ रहना चाहिये, और वह (?) उसे तो कर्त्तव्य के पीछे पागल बन जाना चाहिये!

"गृहस्थ को अपने शत्रुओं का सामना करने के लिये पूर्ण बहादुर बनने की आवश्यकता है—शत्रुओं का अवश्य दमन होना चाहिये—गृहस्थ का यह धर्म है।—उसे चुपचाप किसी कोने में बैठकर रोने की आवश्यकता नहीं! नासमझ विचारों के द्वारा विरक्ति की व्याख्या करने से क्या लाभ? यदि उसने अपने शत्रुओं के सम्मुख अपनी वीरता प्रदर्शित नहीं की, निःसन्देह कर्त्तव्य से च्युत हुआ, वह भला मनुष्य नहीं, वरञ्च् व्याघ्र चर्मधारी है।

"गृहस्थ को चाहिये, दुर्जनों का सत्कार नहीं करें। कारण, सम्मानित दुर्जन दुर्विचारों के विस्तार में अत्यन्त तन्मयता दिखाने लगेगा। दुर्गुणों का बाहुल्य होने लगेगा। सज्जनों की प्रतिष्ठा आँखों से देखते रहना श्रेयस्कर नहीं—वह तो भयंकर भूल होगी। दुर्जनों की संगत से बचे रहना चाहिये—

मैत्री भूलकर भी न हो—इनके साथ परिभ्रमण करना अत्यन्त अनुचित है। किसी के साथ मैत्री करने के पूर्व, उसके धर्माचरणों का भलीभांति निरीक्षण करलो, शुद्ध और सच्चा उतरने पर ही मित्रता स्थापित करना समुचित होगा।—

"गृहस्थ को जन-समूह के समक्ष अपनी प्रशंसा करना कभी-उचित नहीं। उसे अपनी शक्ति, अपने नाम की आडम्बरपूर्ण प्रशंसा करना धर्मसंगत नहीं। अपनी सम्पत्ति या किसी भी वैयक्तिक वस्तु की प्रशंसा क्यों करते हो?

"किये गये भूलों को किसी दूसरे के सामने नहीं कहना चाहिये। भले या बुरे कर्त्तव्यों के सम्पादन करने में यदि सफलता का लक्षण दिखायी नहीं पड़े, तो कोई चिन्ता नहीं, पर उसे जन-समूह के समक्ष व्यक्त करने से लाभ ही क्या? कर्त्तव्यों का फल तो भोगना ही पड़ेगा। क्या उससे कोई मुक्ति दिला सकता है? इसीलिये गृहस्थ को सर्वदा सत्-कार्यों में तल्लीन रहने का प्रयत्न करना चाहिये।—संसार शक्ति की ही उपासना करता है।—

"मनुष्य को अपनी निर्धनता पर कभी भी ध्यान

आकर्षित करना उचित नहीं। धन का घमण्ड तो हमेशा के लिये पतन के गहरे गर्त में ला पटकता है।— अपने विचारों को सुरक्षित रखना ही, उसका धर्म है।—यह सिर्फ सांसारिक चातुर्य ही नहीं है; वरञ्च् इसके विपरीत अनुगामी होने पर, अधर्माचार की ही प्राप्ति हो सकेगी।

गृहस्थ ही सारे समाजों का केन्द्र है, आधार है।—प्रत्येक व्यक्ति, निर्धन, निर्बल, बच्चे, स्त्रियाँ—जिन्हें संसार में कोई भी कार्य नहीं है, सिर्फ गृहस्थों के ही अवलम्ब पर जीवित हैं।—एतदर्थ गृहस्थ को चाहिये कि वह समुचित कार्यों का सम्पादन करे—उसे सुदृढ़ होकर करे—उसे अपने उच्चतम आदर्श से किसी भांति न्यून न समझे ! इसीलिये यह कहा जाता है कि यदि गृहस्थ को किसी कार्य में सफलता न मिले, भयंकर से भी भयंकर भूल हो जाय, तो भी उसे जन-समूह के समक्ष प्रकट न करे ! अपनी व्यथा को दूसरों के समक्ष प्रकट करने से उसका ह्रास नहीं हो सकता—होने वाली बात तो होही जायेगी !— आत्म—हनन के द्वारा मनुष्य अपवादित ही नहीं होता, वरञ्च् संज्ञाविहीन हो, जीवन के समुचित

कर्त्तव्यों की तिलांजलि दे, अनुचित कर्त्तव्यों का सम्पादन करने लगता है।—मनुष्य को अपने अनवरत परिश्रम के बल पर—सर्व प्रथम बुद्धि (ज्ञान) पश्चात् धन की प्राप्ति करना परमावश्यक है। यही उसका कर्त्तव्य है, धर्म है, अन्यथा वह कुछ नहीं है, शून्य है। वह गृहस्थ, जो अन्नोपार्जन की चिन्ता नहीं करता, निःसन्देह अधर्मी है।—जीवन को अकर्मण्यता के साथ व्यतीत करनेवाला गृहस्थ दुराचारी है, कारण, उसपर हजारों की आश लगी हुई है—हजारों का अन्नदाता वही है।—यदि वह अर्थोपार्जन करता है, सम्पत्तिशाली बनता है, तो हजारों की व्यथित क्षुधा को तृप्ति होती है, उनका जीवन सुख-पूर्वक व्यतीत होता है।

यदि इस शहर में सैकड़ों की ऐसी संख्या नहीं होती, जिन्होंने अर्थोपार्जन के हेतु अथक परिश्रम किया, और उसे प्राप्त किया, तो आज यह सारी सभ्यता कहां होती, भिक्षुकों तथा धनियों के घर कहाँ होते ?

उपरोक्त कर्मों के हेतु अर्थोपार्जन करना अधर्म नहीं, वह तो वितरण करने के लिये—दूसरों को दान

देने के लिये उपार्जन किया गया है।—गृहस्थ ही समाज एवं जीवन का आधार है।— अर्थोपार्जन करना, और उसका सदुपयोग करना, एक धार्मिक पूजा है।—सत्कर्मों के द्वारा धन की प्राप्ति तथा सत्कर्मों में व्यय करनेवाला गृहस्थ, स्वर्ग की प्राप्ति के लिये वही कार्य कर रहा है, जो सन्यासी कन्दराओं मे बैठे-बैठे किया करते हैं।—उपरोक्त दोनों विधानों के अभ्यन्तर आत्म-समर्पण एवं आत्म-दमन के विभिन्न स्वरूप हैं—दोनों प्रभु की प्राप्ति के निमित्त ही हैं— सब के सब प्रभु के ही हैं।—

'गृहस्थ को अपनी सुन्दर ख्याति की प्राप्ति के निमित्त हर पहलू से प्रयत्न करना चाहिये।—उसे जूआ आदि कुकर्मों में लीन नहीं रहना चाहिये—बुरी-संगत से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। झूठ बोलना महापाप है! दूसरों की पीड़ा का कारण बनना निन्दायुक्त है।—

अक्सर देखा जाता है, मनुष्य किसी वस्तु-विशेष की प्राप्ति के लिये अग्रसर होता है, पर-साधन नहीं मिलने के कारण, अपनी इष्ट-सिद्धि के निमित्त दूसरे को धोका देने लगता है।—ऐसा करना उचित

नहीं ! उसे सुस्थिर हो सोचना चाहिये। हो सकता है, जिसमें आज सफलता नहीं मिली, कल उसी में पूर्ण सफलता प्राप्त हो जाय !

"गृहस्थ को सदा सत्य बोलना चाहिये, कडुआ सत्य नहीं, प्रिय सत्य. जिससे दूसरे दुखी न हो सकें ! अपने कर्त्तव्यों की प्रशंसा न करो ! दूसरों के साथ छेड़खानियाँ करना, अत्यन्त बुरा है ।—

"जलाशय-पोखरा आदि को खुदानेवाला, सड़क के किनारों पर वृक्षों को लगानेवाला, धर्म-शालाओं, सड़कों, पुलों या किसी प्रकार की अन्य वस्तुओं का निर्माण करने वाला गृहस्थ—जिनके द्वारा जन-समुदाय को लाभ पहुँचे-उसी पद की ओर अग्रसर होता है, जिसके लिये योगी अग्रसर होते हैं ।—

कर्मयोग की पहली शिक्षा यही है, "गृहस्थ अपने कर्त्तव्यों में व्यस्त रहें ।"—इसके परे एक वाक्य और है, "यदि गृहस्थ, युद्धस्थल में, अपने देश एवं धर्म के लिये बलिदान हो जाता है तो वह उसी स्थान पर पहुँचता है, जिस स्थान पर योगी

देने के लिये उपार्जन किया गया है।—गृहस्थ ही समाज एवं जीवन का आधार है।— अर्थोपार्जन करना, और उसका सदुपयोग करना, एक धार्मिक पूजा है।—सत्कर्मों के द्वारा धन की प्राप्ति तथा सत्कर्मों में व्यय करनेवाला गृहस्थ, स्वर्ग की प्राप्ति के लिये वही कार्य कर रहा है, जो सन्यासी कन्द-राओं मे बैठे-बैठे किया करते हैं।—उपरोक्त दोनों विधानों के अभ्यन्तर आत्म-समर्पण एवं आत्म-दमन के विभिन्न स्वरूप हैं—दोनों प्रभु की प्राप्ति के निमित्त ही हैं— सब के सब प्रभु के ही हैं।—

'गृहस्थ को अपनी सुन्दर ख्याति की प्राप्ति के निमित्त हर पहलू से प्रयत्न करना चाहिये।—उसे जूआ आदि कुकर्मों में लीन नहीं रहना चाहिये-बुरी-संगत से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। झूठ बोलना महापाप है! दूसरों की पीड़ा का कारण बनना निन्दायुक्त है।—

अक्सर देखा जाता है, मनुष्य किसी वस्तु-विशेष की प्राप्ति के लिये अग्रसर होता है, पर—साधन नहीं मिलने के कारण, अपनी इष्ट-सिद्धि के निमित्त दूसरे को धोका देने लगता है।—ऐसा करना उचित

नहीं ! उसे सुस्थिर हो सोचना चाहिये । हो सकता है, जिसमें आज सफलता नहीं मिली, कल उसी में पूर्ण सफलता प्राप्त हो जाय !

"गृहस्थ को सदा सत्य बोलना चाहिये, कड़ुआ सत्य नहीं, प्रिय सत्य. जिससे दूसरे दुखी न हो सकें ! अपने कर्त्तव्यों की प्रशंसा न करो ! दूसरों के साथ छेड़खानियाँ करना, अत्यन्त बुरा है ।–

"जलाशय-पोखरा आदि को खुदानेवाला, सड़क के किनारों पर वृक्षों को लगानेवाला, धर्मशालाओं, सड़कों, पुलों या किसी प्रकार की अन्य वस्तुओं का निर्माण करने वाला गृहस्थ— जिनके द्वारा जन-समुदाय को लाभ पहुँचे–उसी पद की ओर अग्रसर होता है, जिसके लिये योगी अग्रसर होते हैं ।—

कर्मयोग की पहली शिक्षा यही है, "गृहस्थ अपने कर्त्तव्यों में व्यस्त रहें ।"—इसके परे एक वाक्य और है, "यदि 'गृहस्थ, युद्धस्थल में, अपने देश एवं धर्म के लिये बलिदान हो जाता है तो वह उसी स्थान पर पहुँचता है, जिस स्थान पर योगी

अपनी तपचर्या के बल पर पहुँचते हैं ।—ठीक है, किसी व्यक्ति विशेष का कर्त्तव्य दूसरे के लिये उप-युक्त नहीं हो सकता, पर इसके कहने का अर्थ यह नहीं है कि अमुक कर्त्तव्य अमुक से छोटा या बड़ा है। सब के सब अपनी स्थिति के अनुसार उच्च हैं, ग्रहणीय हैं, अपनी स्थिति के अनुसार किसी कर्त्तव्य का सम्पादन करना मनुष्य का परम धर्म है।—

इन विचारों के उपरान्त एक विचार उत्पन्न होता है, "निर्बलताओं को दोपास्वीकृति का।" यही, तत्व विद्या, धर्म विद्या, कार्य विद्या की-शिक्षाओं का मुख्य उपदेश है।—वेदों में तुम सर्वत्र पाओगे, "निर्भय रहो" किसी से न डरो। भयभीत रहना निर्बलता का चिन्ह है।— मनुष्य को निःशङ्क हो, संसार की कुछ भी परवाह नहीं करते हुए, कर्त्तव्यों में व्यस्त रहना चाहिये। जो संसार से विरक्त हो, ईश्वर को शरण में चला जाता है, उसे कभी ऐसा नहीं सोचना चाहिये, कि संसारवासी —जो पर उप-कार के पीछे पागल बने रहते हैं, ईश्वर की पूजा नहीं करते। स्त्री और बालबच्चों में लिपटे हुए व्यक्ति को भी सन्यासियों के लिये भगेड़ू-अवारा आदि शब्द

उच्चारण करना उचित नहीं। दोनों अपने-अपने स्थान में बड़े हैं—दोनों की सीमा बराबर है—यह विचार एक कहानी के द्वारा व्यक्त किया जायेगा।

"एक राजा अपने देश में आये हुए सन्यासियों से यही प्रश्न किया करता था, "क्या आप बतायेंगे, जिसने संसार को परित्याग कर सन्यास धारण किया, और जिसने मायावी झंझटों का अपने सर पर लेते हुए, सानन्द, कर्त्तव्य समझ कर, गृहस्थाश्रम में रहना स्वीकार किया-उन दोनों में श्रेष्ठ कौन है?"—कितने ज्ञानियों ने इस प्रश्न का समाधान किया। बहुतों ने बताया "सन्यास ही श्रेष्ठ है,।" पर राजा इसी उत्तर पर सन्तुष्ट नहीं हो जाते। तर्क पर तर्क करने लगते, और समुचित उत्तर नहीं पाने पर सन्यासियों से कहने लगते,-विवाह क्यों नहीं कर लेते?-गृहस्थ बन जाओ।—बहुतों ने गृहस्थाश्रम को सर्वोच्च बताया, पर उसका भी पिण्ड नहीं छूट जाता—उनसे भी वही प्रश्न पूछे जाते—सबूत मांगे जाते, और निरुत्तर होने पर उनसे भी कहा जाता; गृहस्थ बन जाओ!"—अन्त में एक सन्यासी आया। वह युवक था। उससे भी वही प्रश्न पूछा गया।

उसने उत्तर में कहा, "राजन् ! प्रत्येक अपने पद पर ऊँचे हैं।" "सावित करो"—राजा ने कहा। "मैं अवश्य सावित कर दूँगा"—सन्यासी ने कहा, "पर थोड़े दिनों तक—ऐ राजन् ! तुम्हें मेरे साथ रहना होगा, मेरे कथनानुसार चलना होगा, पश्चात्, निश्चय ही सावित कर बता दूँगा, जैसा मैंने कहा है।"—राजा ने सन्यासी की वात मान ली, और उसके अनुगामी बन गये। कितने देशों को पार-करते हुए अन्त में दूसरे राज्य में पहुँचे। उस राज्य की राजधानी में एक महोत्सव होने वाला था। सन्यासी और राजा ने उस महोत्सव का ढिंढोरा सुना—चारो ओर से लोगों का हल्ला सुना-विथियों में जन-समूह का तांता वंधा हुआ था।-सब के सब सुन्दर-वस्त्रों में सुशोभित एवं सुसज्जित थे।-शायद उस स्थान पर कोई बड़ी घोषणा होने वाली थी। वे दोनों-राजा और सन्यासी खड़े हो गये, और देखने लगे-क्या हो रहा है ? ढिंढोरा यही था, "सम्राट की कन्या का स्वयम्वर होने वाला है, उपस्थित महानुभावों में से किसी को वह अपना पति निर्वाचित करेगी।"

भारतवर्ष के पुराने रीत्यानुसार, राजकुमारियाँ अपना पति स्वयं निर्वाचित करती थीं। उनका एक ध्येय होता था, उसी के अनुकूल पतियों का निर्वाचन होता था। किसी को लावण्य-सम्पन्न, सुकोमल, मधुर-भाषित पति ही प्रिय था—किसी को अगाध विद्वान पति की ही उत्कंठा थी-किसी को सम्पत्ति-शाली पति पाने की ही अभिलाषा थी—इसी भाँति विभिन्न अभिलाषाओं के साथ सब के सब अपने अपने पति की कामना में अभिलषित थीं।—राज-कन्या चित्ताकर्षक परिधानों से सुसज्जित हो, सिंहासन पर लायी जातीं—पश्चात्, प्रहरी चिल्लाकर घोषणा कर देता—"इन्हीं का स्वयम्वर होने वाला है, यही अपने पति का निर्वाचन करेंगी।" सब राजकुमार अन्तिम सजावट के साथ सामने आ जाते और राजकुमारी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने का उपाय करने लगते।—राजकुमारी चारों ओर-राजाओं को देखती हुई निकल जाती। हृदय में जिसके प्रति श्रद्धा हो गयी—जो उसके योग्य जंच गया—उसके गले में हार पहना दी--वह उसका पति हो गया; अन्यथा वहाँ से अपने प्रहरी के साथ सीधे

भवन को चली जाती; वह नृपतिगण भी अपने घर को चले जाते।

उस देश की राजकुमारी भी जिसके यहां वे दोनों-राजा और सन्यासी-आये हुए थे-उसी प्रकार के महोत्सव की अभिनेत्री थी। वह सुन्दरता की खानि थी-संसार में एक ही थी। यहीं तक नहीं; बल्कि उसके साथ जिसका सौभाग्य पलट जाय-जो उसका पति बन जाय. राजकुमारी के पिता के मरने के पश्चात् उस राज्य का अधीश्वर बन जाय! उस राजकुमारी की कामना थी संसार का सर्वोत्कृष्ट सुन्दर युवक ही हमें प्राप्त हो, पर कोई ऐसा पति नहीं मिल सका जो उसकी इच्छाओं की पूर्ति कर सके! ऐसी-ऐसी कितनी ही स्वयम्वर-सभाएं समाप्त हो चुकी थीं, पर राजकुमारी के लिये कोई भी उपयुक्त पति नहीं प्राप्त हो सका था। यही कारण था, यह स्वयम्वर सभा—विशेष प्रधानता रखती थी। इस बार सबों से अधिक जन-समूह का पड़ाव था।—राजकुमारी सिंहासन पर—खूब सजधज के साथ लायी गयीं—। प्रहरी ने उन्हें राजाओं की पंक्तियों में खड़ा किया। वह चारो ओर देखने लगीं। पर, हताश हो गयी।

निश्चय हो चला, इस बार भी स्वयम्वर-सभा को विसर्जित करना पड़ेगा।—इसी बीच एक युवा सन्यासी आया। मालूम हुआ, शर्म टूट कर गिर पड़ा है। वह सभा के एक कोने में खड़ा हो गया, और देखने लगा, क्या हो रहा है!—राजकुमारी उस सन्यासी के पास लायी गयी। उसने उसे देखा; और एकबार नयन द्वय को मूक करते हुए, अपने अमूल्य हार को सन्यासी के गले में डाल दिया।—युवा सन्यासी ने उस हार को पकड़ लिया; और पृथ्वी पर फेंक दिया, और ज्योति चमकाते हुए कहने लगा, "नासमझ! इसका क्या अर्थ? मैं सन्यासी हूँ। मेरे साथ विवाह करने की बात ही क्या?" उस देश के राजा ने सोचा,—हो सकता है अपनी निर्धनता के कारण, राजकुमारी के साथ विवाह करने का साहस नहीं करता। उन्हों ने उससे कहा, "मैं अपनी लड़की के साथ, अपने राज्य का आधा भाग अभी दे देता हूँ; आधा मरने के बाद स्वयं मिल जायेगा।—" उन्होंने इतना कहने के पश्चात् फिर उस हार को सन्यासी के गले में डाल दिया। उस युवक ने पृथ्वी पर पटकते हुए फिर कहा, "कैसी

न।समझो है ! मैं विवाह करना नहीं चाहता।"—सभास्थल से वह जोर से पयान कर गया।

राजकुमारी उस सन्यासी के प्रेम-पाश में बिलकुल बंध चुकी थी। उसने निश्चय कर लिया, "उसी से विवाह करूंगी या मर जाऊंगी।" उसने सन्यासी को पीछे लौटाने के लिये पीछा किया। उसी वक्त वह सन्यासी—जो उस आगन्तुक राजा के साथ था—प्रसंगवश कहने लगा, 'राजन् ! इस जोड़ा का पीछा किया जाय।" दोनों चल पड़े। वह सन्यासी वेग के साथ कोसों दूर निकल गया। राजकुमारी ने भी जोर से पीछा किया। हमारे वे सन्यासी और राजा (?) भी कम चलनेवाले नहीं थे। पर, वह सन्यासी जिसने विवाह करने से अस्वीकार कर दिया था—देखते ही देखते एक जंगल में घुस गया; और छिप गया।—राजकुमारी भी जंगल में घुस गयी, पर उसे पा न सकी। वह लुप्त हो गया। राजकुमारी-व्यथा से उत्पीड़ित राजकुमारी वहीं बैठ गयी, और रोने लगी। उसे क्या मालूम था, बाहर निकलने की कौन राह है। थोड़ी देर के बाद हमारे वे राजा और सन्यासी उसी स्थान पर आ पहुँचे।—उन लोगों ने

राजकुमारी से कहा" रोओ मत! हमलोग तुम्हें जंगल से बाहर निकाल देंगे! पर, इस समय नहीं—इस समय तो बिलकुल अन्धेरा है—सुगमता से पथ नहीं मिल सकेंगे। इसी वृक्ष के नीचे आराम करो। सुबह होते ही हमलोग तुम्हें जंगल से बाहर निकाल देंगे।

उसी वृक्ष के ऊपर एक पक्षी अपनी स्त्री तथा तीन छोटे-छोटे बच्चों के साथ रहा करता था। उस पक्षी ने नीचे की ओर तीन मनुष्यों को देखते हुए अपनी-स्त्री से कहा, "प्यारी! अब क्या करना होगा? हमारे मकान में तीन अतिथि आ पड़े—जाड़ा का ऋतु है-हमारे पास अग्नि नहीं"। इतना कहने के पश्चात् वह चिड़िया उड़ी, और जिधर-तिधर से, अपने चोंच के—सहारे, लकड़ियों को लाकर, उन अतिथियों के सामने रख दिया।-उन लोगों ने उसमें अग्नि लगादी, जाड़े से अचिन्त हो गये, ।-पर, इतने पर भी उन चिड़ियों को सन्तुष्टि नहीं हुई। उसने अपनी स्त्री से फिर कहा, "प्रिये, क्या करना होगा? अन्न का सामान कहां से किया जाय! अतिथि भूखे हैं-हम गृहस्थ हैं-हमारा धर्म क्या होना चाहिये! हमें

यथा-साध्य उनकी क्षुधा-तृप्ति का प्रयत्न करना चाहिये। मैं तो अवश्य शक्ति भर वाज नहीं आ सकता, न होगा शरीर न्योछावर कर दूंगा।"— वह चिड़िया धधकती हुई अग्नि के मध्य कूद पड़ा, भस्मी भूत हो गया। अतिथियों को बचाने का पूर्ण प्रयत्न किया; पर व्यर्थ—बिलकुल व्यर्थ; वह तो समाप्त हो चुका था—बिलकुल स्वाहा हो चुका था—दूसरे के हेतु-अतिथि के हेतु, एक गृहस्थ के नाते, शहीद हो चुका था! शहीद पक्षी की स्त्री ने पति की अलौकिक करतूत आँखें-फार-फार कर देख ली। उसने कहा" तीन अतिथियों के बीच एक छोटा सा पति का शरीर भरपूर नहीं हो सकता। पति का कार्य अधूरा रह गया। उसकी पूर्ति के निमित्त मुझे भी शहीद होने की आवश्यकता है।"— वह भी उसी भांति धधकती हुई चिता के मध्य प्रवेश कर गयी। उसके कर्त्तव्य की भी पूर्ति हो गयी। पर-उपकार की बलि-वेदी पर हंसते हंसते न्योछावर हो गयी! पति के अपूर्ण कार्य उससे देखा न जा सका—वह भी शहीद हो गयी! कैसा आदर्शपूर्ण त्याग है! उनके तीन दूध मुंहें बच्चों ने जब अपने

मां-बाप के महान् त्याग का दिग्दर्शन किया; तब उन लोगों ने सोचा, "इतने अतिथियों के लिये सिर्फ मां-बाप के छोटे-छोटे दो शरीर क्षुधा-तृमार्थ-पूरे नहीं हो सकते। हमलोगों का भी यही धर्म है कि हम उनके अवशेष कार्यों की पूर्ति करें। हमारे शरीर भी उन्हीं के निमित्त नष्ट हो जायं!-" उनलोगों ने भी उसी धधकती हुई चिताग्नि में अपनी आहुतियां दे डालीं।-अतिथियों ने उन चिड़ियों को खाया नहीं; आश्चर्यचकित हो सोचने लगे।—उस रात को उन लोगोंने निराहार बिताया। प्रातःकाल होते ही उन दोनों-राजा और सन्यासी-ने मिलकर उस राजकुमारी को जंगल से बाहर कर उसके घर का सीधा रास्ता बता दिया। वह अपने घर को चली गयी!-पश्चात् उस सन्यासी ने राजा से कहा," राजन्! क्या आपने देखा कि; दोनों अपने-अपने स्थान में, कैसे सर्वोच्च हैं? यदि तुम संसार में रहना चाहते हो; तो उन चिड़ियों के आदर्श के साथ रहो—सर्वदा आपने आपको-पर-उपकारार्थ बलिदान करने के लिये तैयार रखो। नहीं, यदि सन्यासी का जीवन-व्यतीत करना चाहते

हो तो, उस युवक सन्यासी की भाँति रहना होगा! उस समय तुम्हारे लिये संसार की सारी विभूतियां—रूप-लावण्य—सम्पन्न स्त्रियां. रत्नों से खचित इमारतें, बड़े-बड़े सम्राटों के दिये गये राज्य, धूल हैं, तृणवत् हैं! गृहस्थ का जीवन व्यतीत करने के लिये: तुम्हें अपने शरीर को दूसरों के हितार्थ सुरक्षित रखना होगा। सन्यासी का जीवन व्ययापन करने के लिये, सौन्दर्य, मुद्रा और अहंकार को परित्याग करना होगा। प्रत्येक आश्रम अपने-अपने पद पर ऊँचे हैं; पर एक का कर्त्तव्य दूसरे का कर्त्तव्य नहीं हो सकता; कर्त्तव्य में विभिन्नता अवश्य रहेगी, दोनों दो वस्तु हैं।—

जब कुरुक्षेत्र का युद्ध समाप्त हो गया; तब पाण्डवों ने मिलकर एक विशाल यज्ञ की रचना की, उसमें असंख्य निर्धनों को भिक्षा दान दिया गया। उस विशाल यज्ञको देखकर जिसमें रत्नों की धार बह चली थी—लोग आश्चर्य चकित हो कहने लगे—"ऐसा यज्ञ संसार में कभी नहीं हुआ होगा।"—पर, महोत्सव समाप्त होने के पश्चात्, यज्ञ वेदी के निकट एक नेवला आया। उसके शरीर के आधे

भाग सुवर्णमय तथा आधे भाग भूरे–रंग के थे। वह धीरे–धीरे वहाँ टहलने लगा। प्रत्येक चक्कर की समाधि के पश्चात्, नेवला कह उठता था, "तुम सब झूठे हो। यह कोई यज्ञ नहीं त्याग नहीं।"—लोगों ने पूछा, क्या कहते हो; यह यज्ञ नहीं है? कितने हीरे जवाहरात लुटाये गये–गरीबों को बांटे गये–सब लोग धनी और सुखी हो गये, फिर भी तुम कहते हो यह यज्ञ नहीं? यह तो वह यज्ञ है, जैसा आजतक कभी हुआ नहीं, किसीने किया नहीं!"—पर उस नेवले ने कहा, "एक गांव में एक निर्धन ब्राह्मण रहता था। उसे एक स्त्री, एक पुत्र तथा एक पुत्रवधू थी। वे अत्यन्त निर्धन थे। उनका निर्वाह भिक्षाटन एवं अध्यापन पर—निर्भर था। वहां लगातार तीन वर्षों तक अकाल का प्रकोप होता रहा। निर्धन ब्राह्मण–परिवार ने अत्यन्त–यातना पायी। पांच दिनों तक भूखे रहे;—छठवें दिन ब्राह्मण पिता ने, सौभाग्यवश, जव का आंटा किसी स्थान से प्राप्त किया। वह भी पूरा नहीं था। उन्होंने उसे चार भागों में विभक्त कर दिया। सब लोग अपनी–अपनी रोटियां बनाने की तैयारी करने लगे, पर उसी बीच

किसी ने द्वार खटखटाया। पिता ने दरवाज़ा खोलकर देखा, एक अतिथि खड़ा था। भारतवर्ष में अतिथि देव तुल्य समझे जाते हैं। उनके स्वागत की चिन्तना सबों को रहती है।—उस निर्धन ब्राह्मण ने कहा, "महाशय जी, आइये, स्वागत है।—उस ब्राह्मण ने अपनी कमाई का अपना अंश उस अतिथि के सामने रख छोड़ा। अतिथि खा गया, और बोला, 'हाय, महाशय जी! आपने मेरी जान लेली। मैं दस दिन का भूखा हूँ। रोटी के टुकड़े ने मेरी क्षुधाग्नि को और प्रज्वलित कर दिया।"—उस निर्धन ब्राह्मण की स्त्रीने कहा, "मेरा हिस्सा भी देदो।" पति ने ऐसा करने से अस्वीकार किया। पर पत्नी ने पति को समझाते हुए कहा, "एक गृहिणी के नाते मेरा धर्म है कि मैं एक भूखे अतिथि को खिलाने के लिये अपना हिस्सा दे डालूँ। और उसमें भी उस हालत में, जब तुम स्वयं निर्धन-बने पड़े हो।"—निर्धन ब्राह्मण पति ने पत्नी का भाग भी अतिथि को दे डाला। अतिथि ऐसा भूखा था, कि वह उस भाग को भी शीघ्र ही चट कर गया, फिर भी उसकी क्षुधा-तृप्ति नहीं हुई। उसने फिर मांग पेश की। पश्चात् पुत्र ने कहा, "यह

मेरा हिस्सा भी लेलो। पिता के ऊपर, किसी का एहसान रहते, पुत्र का जीते रहना अधर्म है।-" अतिथि ने उस भाग को भी खा लिया, फिर भी भूख की ज्वाला नहीं मिटी।-पुत्रवधू ने भी अपना हिस्सा दे डाला। बस, शान्ति हो गयी-उस अतिथि की भूख-ज्वाला मिट गयी, वह वहाँ से, उस निर्धन ब्राह्मण परिवार को आशीर्वाद देता हुआ अन्य स्थान के लिये पयान कर गया।-भूख की ज्वाला असह्य होने के कारण, उसी रात को चारो प्राणियों का स्वर्गारोहण हो गया। उसी भागमय आंटे के कुछ अंश, उन शहीद प्राणियों के शवों के इधर उधर बिखरे हुए थे! जब मैं उन अंशों को पार कर जाने लगा, मेरा आधा शरीर सुवर्णमय होगया-जैसा तुम देखते हो। उसी समय से मैं संसार का भ्रमण कर रहा हूँ, पर कहीं भी वैसा यज्ञ नहीं देखता। मेरे आधे अंग ज्यों के त्यां हैं—कहीं भी सुवर्णमय नहीं हो सके। यही कारण है, जो मैं इस यज्ञ को यज्ञ नहीं समझता।—

आज भारतवर्ष से दयालुता के भाव क्रमशः विनष्ट होते जा रहे हैं। महाजन, लघुजन में परिणत

हो रहे हैं। सर्व प्रथम, जब मैंने अंग्रेजी-साहित्य का अध्ययन करना शुरू किया, मुझे एक पुस्तक के अन्दर एक कहानी पढ़नी पड़ी। एक कर्तव्य-निष्ठ बालक ने अपनी कमाई का कुछ अंश अपनी बूढ़ी मां की सेवा में अर्पण किया था, सिर्फ उसी एक बात के लिये उस पुस्तक में तोन-चार पन्ने रंगने पड़े थे। तारीफ का पुल बाँध दिया गया था। वह क्या था? हिन्दू लड़के उस कहानी को कभी नहीं समझ सकते। मैंने जब पाश्चात्य-सभ्यता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया; तब समझ पाया, प्रत्येक मनुष्य अपने हित के लिये जीवित है। बहु-संख्यक मनुष्य सिर्फ अपने आराम की चिन्ता करते हैं, उनके माँ-बाप, स्त्रियाँ, बाल बच्चे भले ही रसातल को चले जायँ, उन्हें उनके लिये क्या चिन्ता? गृहस्थ के लिये ऐसा कर्त्तव्य कभी भी आदर्शपूर्ण नहीं हो सकता।

अब तुम्हें मालूम हो गया, कर्मयोग का अर्थ क्या है, मरते दम तक पर-सेवा में निरत रहना। पर-सेवाएँ निस्पृहरूप से होनी चाहिये। कोई चिन्ता नहीं; क्लेश से घबड़ाना नहीं चाहिये।

आँख-मूँदकर कर्त्तव्य किये जाओ। किसी से बदला की आशा न रखो। तुमने किसी का उपकार किया; धर्म पालन किया; इसमें बदला का प्रश्न ही क्या?—यह स्वयं सिद्ध है, आदर्श सन्यासी बनने से आदर्श गृहस्थ बनना कहीं कठिन कार्य है। विरक्त-मय जीवन से कर्तव्यमय जीवन कहीं दुरुह एवं दुष्कर है।

समाज का नग्ननृत्य

या

मेरे राम का फैसला।

इस पुस्तक में समाज के हर पहलू पर पुर-जोस शब्दों में फैसला लिखा गया है। यह कहना वेजा नहीं होगा कि यह फैसला अपने ढंग का बिलकुल मौलिक, शैली बिलकुल नूतन तथा भाषा बिलकुल अप-टु-डेट है। एक बार एक फैसला को पढ़ लेने के बाद बिना पुस्तक समाप्त किये तबीयत नहीं मानती चुह-चुहाते शब्दों के प्रवाह से तबीयत मस्त हो जाती है। ऐसी सुन्दर पुस्तक का मूल्य केवल १) रुपया।

आत्मा-अविनाशी है ?

(न्यू-यार्क के "मौर्निङ्ग एडभरटाइज़र में
लिखे गये नोट")

आत्मा-अविनाशी है ?

अमिट को मिटाने वाला कोई नहीं ।

"गीता"

संस्कृत के महाकाव्य महाभारत में एक कहानी आती है, धर्म के इस प्रश्न का उत्तर वीर युधिष्ठिर ने किस भांति दिया, "क्या आप बता सकेंगे, संसार में सब से बढ़कर आश्चर्यपूर्ण वस्तु क्या है ?—" "मनुष्य का वह दृढ़-विश्वास कैसा आश्चर्यपूर्ण है; वह अपने को अमर समझता है; फिर भी अपनी आखों से चारो ओर, अपने जीवन की प्रत्येक घड़ियों में, मृत्यु का दर्शन करता है ।"

बात भी अक्षरशः सत्य है; मनुष्य जीवन में यह सब से बढ़कर आश्चर्य मालूम होता है।— लगातार कितने विद्यालयों के द्वारा पूर्ण तार्किक-पहलुओं के साथ समझाने पर भी, मनुष्य ज्यों का त्यों उसी सिद्धान्त को मान बैठा है, "मैं नहीं मर सकता।"

यदि समूचे जीवन का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय; तो अन्त में सज्ञान-सजावट के समानान्तर 'जीवन और मरण' का प्रश्न उपस्थित होही जाता है; भले ही हम उसकी स्वीकृति दें या न दें।— हम वार्तालाप, लेख, उपदेश शिक्षा, आदि के द्वारा, पक्ष या विपक्ष में, स्थायी या अस्थायी रूपेण, मनुष्य शक्ति के बारे में मनमाना व्याख्या कर सकते हैं, हम किसी पक्षका मंडन भीषण रूपसे कर सकते हैं, हमारा अधिकार है, हम उसके लिये सैकड़ों नामों का आविष्कार कर बैठें, पर, प्रत्येक पूर्वाधिकारी से वही उलझित, दुरुह एवं कठिन होगा। वह तो हमें माया के क्षणिक-सुख में आवद्ध कर देगा। हम भ्रम में पड़कर उसी निर्णय को अधिकार कर बैठेंगे, जो एकबार पूर्णरूप से निर्णय हो चुका

है।—पर नहीं, हमें तो अपनी शक्तियों को झूठे धर्मों के किसी एक अंग के साथ व्यय करना है—हानिप्रद-वैज्ञानिक झूठे बखेड़ों में आबद्ध करना है—पर अंत में हम क्या पाते हैं? अपने को बहते हुए तार्किक मित्रों के साथ आन्तरिक खेल खेलते हुए, तथा पग-पग पर मांसिक कंटीले कंटकों को उगते हुए, नहीं, नहीं, बिंधते हुए!! इस क्रिया की समाप्ति एकही बार में नहीं हो जाती, बल्कि इसकी पुनरावृत्ति होती ही रहती है।—

इन मांसिक झुकावों एवं व्याधाओं के पीछे तो और भयंकर, प्राणघातक खेल मालूम हो रहे हैं। हमारे सामने एक विषय खड़ा होता है, वह चुनौतियों एवं तर्कों के झमेलों से परे है, वही है "हमारे मस्तिष्क की अयोग्यता"-जिसके आधार पर हम अपने सत्यानाश के बारे में सोचा करते हैं, हमारा सत्यानाश हो जाता है।

अपने सत्यानाश पर भी सोचने की हमें फ़ुर्सत कहां? हम तो उसी के निकट खड़े रहते हैं और दर्शक की भांति तमाशा देखते रहते हैं!

हम उस अद्भुत वस्तु का अर्थ समझने की

कोशिश करने के पूर्व ही, यह धारणा करने लगते हैं, कि निखिल विश्व एक ही अवस्था में स्थित है। वाह्य संसार की स्थिरता अवश्य ही अन्तर संसार से गुंथित है, तोभी संसार में ऐसी सत्य कल्पना देखी जाती है, जो एकही स्थिरता को स्वीकार करता है, और दूसरे में अविश्वास प्रकट करता है। वैसी कल्पना करने वाले स्वयं अनुभव करेंगे कि उनकी स्वयं यन्त्र-रचना में भी एकही कला से काम नहीं चलता, उसके लिये वाह्य और आन्तरिक की शरण लेनी पड़ती है। ध्येय (सिद्धान्त) की प्राप्ति के निमित्त वाह्य और अन्तर संसार का एक ही संगठित प्रतिनिधि उपयुक्त हो सकता है।—यद्यपि यह निर्विवाद है कि जब मानव-मस्तिष्क अपनी सीमा का विस्तार करता है, तव, उसे मालूम होने लगता है। "द्विशक्ति का ह्रास हो गया, वह तो वैयक्तिक एकता में परिस्रुत हो गयी।"—इस ओर सारा संसार कर्ममय मालूम होने लगता है। तात्पर्य यह कि, ससार--जिसे हमलोग जानते हैं, सिर्फ कर्त्ता पुरुषों के ही लिये है, और भविष्य में भी उन्हीं का हो सकता है।—इसीलिये हमें कर्त्ता के सत्यानाश पर विचार

करने के पूर्व कर्म के सत्यानाश पर पूर्ण विचार कर लेना आवश्यक है।—

हां, कठिनाइयां सामने अवश्य आती हैं। हमें अपने को साधारण नहीं समझना चाहिये, जैसे अन्य वस्तुओं को समझा करते हैं। पर, इस शरीर का क्या होगा ? हम तो अपनी अमरता का अर्थ, नश्वर शरीर की अमरता में समझे वैठे हैं। शरीर नश्वर है—बिलकुल नश्वर है, उसका नाश होना उसी भांति निश्चय है, जिस भांति विभिन्न प्राकृतिक वस्तुओं का नाश होता रहता है।—

तब, स्थिरता—अमरता—है कहां ?

हमारे जीवन के साथ एक अपूर्व अद्भुत वस्तु गुंथित है, हम उसके बिना जीवित नहीं रह सकते, हमारे जीवन का क्षणिक आनन्द भी उसके बिना कहां प्राप्त हो सकेगा ? वह तो स्वतन्त्रता का अद्भुत ज्ञान है।

यही एक ज्ञान हमारी, पग-पग पर, रक्षा करता है—हमारे आन्दोलनों को सहल बनाता है—आपस में एक-दूसरे के बीच सम्बन्ध संस्थापित करता है, नहीं, शायद इसी के द्वारा मानव-जीवन का सारा

साज ही सजाया जाता है। माननीय-बुद्धि इसे, इसके निजी राज्य से क्रमशः भगाने का ही प्रयत्न करती है—इसके राज्य से कितने स्थान छीन लिये गये—इसके पग-पग पर लोहे के बड़े-बड़े शिकंजे लगाये गये हैं। पर यह तो हमारे प्रयत्नों पर हँस रहा है। यह तो वड़े-वड़े अकाट्य नियमों तथा तर्कों से भी परे हो गया। हम तो इन्हीं के आधार पर इसे बुला-घुला कर वध करना चाहते थे।—कानूनों के-नियमों के-तर्कों के बड़े बड़े विशाल खंभे व्यर्थ हो गये—उनमें वह कैद नहीं हो सका!!—यह हो भी कैसे सकता है?. सीमा-बद्ध वस्तु-विशेष की व्याख्या करने के लिये अपरिसीम वस्तु-विशेष की आवश्यकता पड़ती है। परतन्त्रा की व्याख्या स्वतन्त्र ही कर सकता है, और तर्कों की व्याख्या अतर्क!!—

पर, वही प्रश्न पुनः आ उपस्थित होता है। स्वतन्त्र है कौन? यह शरीर या मस्तिष्क? यह तो स्पष्ट मालूम हो रहा है, उपरोक्त दोनों वस्तुएँ उसी भाँति विधानों की श्रृङ्खलों में आबद्ध हैं, जिस भाँति संसार की अन्य वस्तुएं।

. . इसी भंवरजाल के मध्य एक स्वयं प्रश्न उत्पन्न

होता है। क्या सारा संसार अमिट परिवर्तन का समूह है, और कुछ नहीं ? सृष्टि-नियंता के विधानों में जोर से जकड़ा हुआ है-उसमें अपनी एकता का-एकीकरण का-अणुमात्र भी अंश नहीं ? फिर भी हमारे सामने अमरता, स्वतन्त्रता का भ्रम बढ़ता ही जाता है। मानव मस्तिष्क का शुद्ध एवं साधार विश्वास भ्रम नहीं कहा जा सकता। हमारे अन्दर और सृष्टि के अन्दर, कोई ऐसी वस्तु अवश्य है, जो सर्वदा अमर है—बिलकुल स्वतन्त्र है। विज्ञान का धर्म है, वह अपने अनुमानों के द्वारा-तर्कों के द्वारा इसका सर्वोच्च परिणाम निकाले। किसी पहले को विनष्ट करने की इच्छा से-अपने पक्ष की पूर्ति के निमित्त-छोटी-मोटी तर्कों की व्याख्या कर देने से ही कोई विज्ञानी नहीं कहा जा सकता, हाँ, वह दूसरा कुछ भले ही कहा जा सकता है।—

हमारे अन्दर कोई और वस्तु अवश्य है, जो-स्वतन्त्र है-अमर है।—पर वह शरीर नहीं है। उसे हम मस्तिष्क भी नहीं कह सकते। शरीर का नाश पल-पल पर होता रहता है, वह तो नश्वर है। मस्तिष्क चंचलता से आच्छन्न है-वह तो परिवर्त्तनमय है।

शरीर एक संगठित संघ है। मस्तिष्क को भी वही समझना चाहिये। वे तो विना परिवर्तन की शरण लिये किसी अवस्था में पहुँच ही नहीं सकते।

इस विशाल पदार्थ-(स्थूलकाय शरीर) का क्षणिक-अघ-पुञ्जों में फँस जाना—मस्तिष्क को सुकोमल सूक्ष्म परदे से अच्छादित हो जाना, और उसके परे भी कोई वस्तु है, वह है आत्मा-मनुष्य का सच्चा स्वरूप-अटल, अमर-स्वतन्त्र—सदा स्वतन्त्र-!!

यह उसी की स्वतन्त्रता है, जिसके द्वारा पदार्थों एवं विचारों की क्यारियाँ बनायी गयी हैं। उसके सामने नामों को रंगने एवं रचने का प्रश्न ही क्या ? वह तो असीम, अपूर्व ज्योति का विकाश कर रही है। यह उसी की अमरता है, उसी का आशीर्वाद, उसी की शांति !—स्वर्गीयता मनुष्यता में प्रवेश कर अपनी ज्योति चमकाती है-उसे मूर्छित कर देती है, पर, बदले में दे जाती है—निर्भयता-अमरता—स्वतन्त्रता-बिलकुल स्वतन्त्रता !!!

स्वतन्त्रता तभी सम्भव है, जब आन्तरिक शक्तियाँ किसी बाह्य प्रभाव से स्तंभित न हो जायं-उनके सामने कभी भी परिवर्त्तन का प्रश्न ही न

उपस्थित हो। स्वतन्त्रता तभी प्राप्त हो सकती है, जब हम सारे कारणों से मुक्त हो जायं— सारे विधानों पर—स्वतन्त्रताओं से छुटकारा मिल जाय—उनका कोई भी असर-हमारे ऊपर न होने पावे।—दूसरे रूप में—सिर्फ अचल, अटल ही एक स्वतन्त्र हो सकता है—और इसीलिये वह अचल है, अमर !!

यह जीव-यह आत्मा-मनुष्य का सच्चा स्वरूप, स्वतन्त्र-अटल, सब कारणों से परे, बिलकुल शुद्ध-जीवन और मृत्यु से रहित है !!

जीवन और मृत्यु से रहित, आन्तरिक सर्वदा एकसा, अचल और अटल आत्मा है। वह अनन्त है, अविनाशी है !!

प्यासी तलवार

यदि आप अपनी देवियों को अपने पैरों पर खड़े होना देखना चाहते हों तो इस पुस्तक को अवश्य पढ़ावें। यह पुस्तक उन्हें अपने पूर्व गौरव, देशभक्ति, आत्मत्याग और पतिभक्ति की अमिट शिक्षा देगी। एक राजपूत कन्या अपने देश को शत्रुओं से आक्रान्त देख कैसी भीषण प्रतिज्ञा करती है—कैसे अपनी ललकार से नपुंसकों को भी युद्धभूमि में जाने के लिये उत्साहित करती है और अन्त में विजय कर अपने देश को मुक्त करती है, आदि विवरण पढ़कर आपके रोंगटे खड़े हो जायेंगे। आरम्भ से आदि तक मनोरञ्जक घटनाओं से पुस्तक भरी पड़ी है। मेरा यह दावा है कि देवियाँ तथा पुरुष इसे पढ़कर आदर्श बन सकते हैं। सचित्र पुस्तक का मूल्य १।) रुपया।

माला की प्रकाशित पुस्तक

१ उपनिषद् समुच्चय ।

स्वामी दयानन्द के शिष्य पं० भीमसेन शर्मा ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय श्वेताश्वतर इन ६ उपनिषदों पर संस्कृत हिन्दी भाष्य किया था, जो १८ वर्षों से न छपने के कारण अप्राप्य था। स्वामी लक्ष्मणानन्द जी ब्यावर वाले के उद्योग से अब उनका प्रकाशन हो गया है। भाष्य ऐसा सरल है कि संस्कृत का ज्ञान न रहने पर भी अच्छी तरह से लोग समझ सकते हैं। पृष्ठ संख्या १२००, कागज छपाई उत्तम, मजबूत जिल्द। मूल्य ५) रुपया।

२ वीर अमरसिंह राठौर।

यह वही अमरसिंह राठोर हैं जिन्होंने भरे दरबार में सेनापति सलावत खाँ का सर काटकर भूखे सिंह के समान यवन-दल का संहार करते हुए किले की चहार दिवारी के ऊपर से घोड़े सहित कूदकर साफ निकल गए थे। औरों की क्या स्वयं बादशाह भी उनके डर से काँपा करता था। यह पुस्तक उन्हीं वीर शिरोमणि की जीवनी

...ना है। अपनी जातीयता, आत्म-गौरव तथा शान का ध्यान मनुष्य को कितना रखना चाहिये। 'सर जावे तो जावे पर आन न जाने पावे" इसका ज्वलन्त उदाहरण इस पुस्तक में मिलेगा। प्रत्येक युवकों को इससे लाभ उठाना चाहिये। सचित्र पुस्तक का मूल्य १।) रुपया।

३ वीर-मराठा

वीर मराठा बाजीराव पेशवा का जन्म उस समय हुआ था जिस समय समस्त दक्षिण प्रान्त यवनों के शिकंजे में जकड़ा हुआ उद्धार पाने की प्रतीक्षा कर रहा था। ऐसे समय में जब कि यवनों के अत्याचार का बाजार गर्म था और चारों तरफ त्राहि त्राहि मची हुई थी। इस वीर ने समस्त महाराष्ट्र वीरों का संगठन कर अपने देश को स्वतन्त्र करने के निमित्त युद्ध की बागडोर अपने हाथों में ले स्वातन्त्र्य युद्ध में कूद पड़ा। समुद्र की भाँति उमड़ती हुई यवन सेना से मुठभेड़ और साथ ही साथ अंग्रेजों और अन्यान्य विदेशियों से भी इस वीरता के साथ सामना किया है कि पढ़कर एक बार दांतों तले अंगुलियां दबा बैठेंगे। यवनों को बार बार शिकस्त देते हुए अन्त में मदन मस्त मस्तानी नामक यवन कन्या को किस तरह हस्तगत

किया है आदि २ विवरण पढ़ने ही योग्य है। प्रत्येक इतिहास प्रेमी तथा विद्यार्थियों को इस पुस्तक से लाभ उठाना चाहिये। सचित्र पुस्तक का मूल्य १) रुपया,

४—वीर दुर्गादास राठौर

इसमें 'औरङ्गजेब! महाराणा राजसिंह, भीम-सिंह, राणा उदयसिंह, शिवाजी के पुत्र महाराष्ट्रपति "शम्भाजी" और शाहजादा अकबर आजम, काम-बख्श प्रभृति के इतिहास प्रसिद्ध भीषण युद्धों का वर्णन बड़ी ही ओजस्विनी भाषा में किया गया है। 'मुगल-रमणियों और राजपूत ललनाओं के चरित्र का खाका बड़ी ही बारीकी से खींचा गया है।

दिल्ली के बेगम का आसक्त होना, इस वीर का निर्भीक उत्तर, राणा यशवन्तसिंह के पुत्र के बचाने के निमित्त घोर संग्राम, आदि भयानक घटनाओं का समावेश आप पुस्तक के प्रत्येक परिच्छेद में पावेंगे। भारत के प्रत्येक स्त्री बच्चों तथा युवकों को इनकी जीवनी पढ़ना चाहिये। सचित्र पुस्तक का मूल्य २।।) रुपया।

५—राजपूत नन्दिनी

भारत में अनेक वीरांगनाएँ ऐसी हो चुकी हैं,

जिनका जोड़ संसार के इतिहास में भी कठिनाई से मिलता है। पौराणिक युग के बाद ऐतिहासिक काल में, राजपूत-महिलाओं का वीरत्वपूर्ण चरित्र बड़ा ही उज्वल देखने में आता है। उन्हीं में से एक चरित्र 'कर्मदेवी' का भी है जो वस्तुतः बड़ा ओजस्वी और गौरवशील है। इस पुस्तक में उसी वीर-बाला का चरित्र अङ्कित किया है।

६ अवतारवाद मिमांसा

आजकल अवतारवाद पर लोगों में भ्रम फैल रहा है। अवतार क्या है, इसे लोग नहीं समझते। और इसीलिये वेद उपनिषद आदि के मंत्रो को मन-माना तोड़ मड़ोर कर जनता को भ्रम में डालते हैं। पं० कालूराम शास्त्री ने इसी उद्देश की पूर्ति के लिये एक अवतारवाद मीमांसा नाम की पुस्तक लिखी है, जिसमें छल कपट से काम लिया गया है, उसी पुस्तक के खण्डन में यह पुस्तक लिखी गई है। इसके पढ़ने से लोगों को यह भली भाँति मालूम हो जायगा कि वास्तव में अवतार क्या है। और किसको कहते हैं? लेखक—पण्डित जे० पी० चौधरी काव्यतीर्थ। मू० १।) रु०

७—शुद्धि सनातन है

आज कल कुछ स्वार्थी, शास्त्र पुराण ज्ञानहीन

रुचि के पुजारी पण्डित कहा करते हैं कि शुद्धि तो आर्यों ने चलाई है। पूर्वकाल में शुद्धि नहीं होती थी। उनकी आँख खोलने तथा भ्रान्त जनता के भ्रान्ति निवारण के लिये उक्त पुस्तक श्रुति स्मृति पुराण-इतिहास ग्रन्थों के आधार से बड़ी ही योग्यता के साथ लिखी गई है, एक बार पढ़ जाने से फिर किसी प्रकार की शंका रह नहीं जाती। लेखक-पण्डित जे० पी० चौधिरी काव्यतीर्थ। मूल्य ।।।) आना,

८-सरल संस्कृत प्रवेशिका

हमारे धर्म ग्रन्थ संस्कृत भाषा में रहने तथा वर्तमान धार्मिक जागृति के कारण आज कल संस्कृत भाषा के अध्ययन की उत्कट इच्छा दिनों दिन बढ़ती जा रही है। परन्तु सरल मार्ग से मातृभाषा की सहायता से संस्कृत में प्रवेश कराने वाली अभी तक किसी उपयुक्त पुस्तक के न होने के कारण मुझे इस पुस्तक के रचने का विचार हुआ। इस पुस्तक से सब श्रेणीके लोग लाभ उठा सकते हैं। जो लघु कौमुदी या कौमुदी आदि व्याकरण सूत्रों को रटना नहीं चाहते, और शास्त्र पुराणादि का पढ़ना और समझना चाहते हैं अथवा जो कौमुदी आदि पढ़ना चाहते हैं या पढ़ रहे हैं, अथवा जो हाई स्कूल के विद्यार्थी संस्कृत को सेकण्ड लॉग्वेज लेकर पढ़ते हैं, इन सब

श्रेणियों के लाभ के उद्देश्य से इस पुस्तक में प्रत्येक विषयों पर भली भाँति प्रकाश डाला गया है। संस्कृत भाषा का कुछ भी ज्ञान कराये विना, आज कल छोटे छोटे बालकों के हाथ में लघु कौमुदी को पुस्तक पकड़ा दी जाती है, जिसे बालक विना समझे तोते की भाँति रटना आरम्भ करते हैं; जिससे लड़के की शक्ति तथा समय व्यर्थ नष्ट होता है। यह परि-पाटी संस्कृत पाठशालाओं में बहुत दिनों से चली आ रही है पर यह परिपाटी अत्यन्त दूषित और त्याज्य है। इस लिये एक बार इस पुस्तक को मंगा-कर देखें कि कितना शीघ्र आपको संस्कृत का ज्ञान होता है। ४०० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य १।) रुपया।

६—वीर बाला दुर्गावती

ऐसा कोई भारतवासी नहीं है, जो वीर दुर्गावती को न जानता हो। इस वीर रानी ने किस वीरता से अपने देश की स्वतन्त्रता के निमित्त म्लेच्छों से युद्ध किया है और वीर गति को प्राप्त हुई है। इसका वर्णन इस पुस्तक में बड़ी ही सरल भाषा में किया गया है। सचित्र पुस्तक का मूल्य ॥।) आना

१०—सम्राट अशोक

यह पुस्तक लाला लाजपतराय की लिखी हुई उर्दू पुस्तक का अनुवाद है। पुस्तक को लालाजी ने

कई इतिहासों के आधार पर बड़ी ही गवेषणापूर्ण लिखा है। पुस्तक बहुत ही रोचक तथा शिक्षाप्रद है। इसके विषय में अधिक लिखना सूर्य को दीपक दिखाना है क्योंकि लेखक से ही पाठक पुस्तक के महत्व का अनुभव कर सकते हैं। कई रङ्ग बिरङ्गे चित्रों सहित पुस्तक का मूल्य १।) रु०

११—छत्रपति शिवाजी

मुगल साम्राज्य समस्त देश को हड़प कर चुका था। साम्राट औरंगजेब ने हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिये अपनी समस्त शक्ति लगा दी थी। हमारे धर्म-शास्त्र, मठ-मन्दिर, गो ब्राह्मण, साधु-सन्यासी, उसकी दया पर जीवित थे। औरंगजेब चाहता था कि एकबार समस्त भारत के हिन्दुओं को मुसलमान बना डालूँ? इसी समय शिवाजी ने अपने अतुल पराक्रम से किस तरह हिन्दुओं की धर्म-रक्षा की और अन्त समय तक युद्ध करते रहे। शिवाजी का ऐसा अच्छा सचित्र चरित्र, आज तक किसी भाषा में नहीं निकला। यह पुस्तक देश भक्त लाला लाजपतराय की लिखी हुई है। आप पढ़िये और बालक बालिकाओं को पढ़ाकर उनके चरित्र को गठित कीजिये। कई चित्रों सहित पुस्तक का मूल्य १) रुपया

१२—झांसी की रानी

प्रातः स्मरणीया पूजनीया महारानी लक्ष्मीबाई को ऐसा कौन भारतीय है जो न जानता होगा। सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य युद्ध में इस वीराङ्गना ने किस महान साहस तथा वीरता के साथ गौरांग महा-प्रभुओं की विशाल सेना का सामना किया और अनेकों बार उनके दाँत खट्टे किए। अन्त में अपनी प्यारी मातृभूमि के लिए लड़ते हुए युद्ध-क्षेत्र में स्वयं जल मरी, परन्तु पराधीनता को स्वीकार नहीं किया। इसका वर्णन आपको इस पुस्तक में अत्यन्त हृदय-विदारक तथा रोमांचकारी भाषा में मिलेगा। सचित्र पुस्तक का मूल्य २) रुपया

१३—महाराणा प्रताप

जिस समय यवन साम्राज्य की अग्नि-ज्वाला में समस्त देश धू धू करके बिना रोक टोक के दग्ध हो रहा था,—भारत के विश्व विख्यात राजा महाराजा-गण, जिस समय अपनी मुकुट मणियों को मुगल सम्राट के पद-पद्मों में निक्षेप करने में ही अपना गौरव समझते थे, ऐसी अवस्था में सम्राट अकबर ने उच्च अधिकारियों को लालच देकर अपनी अतुल शक्ति

का आतङ्क दिखा कर—कुलीन राजपूतों की कन्याओं तक से विवाह करना शुरू कर दिया था। उसी समय क्षत्रियकुल-मुकुटमणी महाराणा प्रताप का उदय हुआ था। मुट्ठी भर साथियों को लेकर महाराणा प्रताप ने जीवन की अन्तिम घड़ी तक, हिन्दू जाति की पताका को बराबर फहराते रखा। यह उन्हीं महामहिम महाराणा प्रताप का ओजस्विनी भाषा में लिखा सचित्र जीवन चरित्र और इतिहास है। मूल्य १) रुपया।

१४—पृथ्वीराज चौहान

जिस समय भारत पर विदेशी यवनों की लोलुप-दृष्टि लगी हुई थी और वे बारबार भारत पर आक्रमण करते और मुंह की खाकर बैरंग लौट जाते थे, यह उसी का रक्त—रञ्जित इतिहास है। उस समय यदि जयचन्द जैसे देशद्रोही जातीय शत्रु, भारत वसुन्धरा को कलंकित न करते, तो आज भारत का मान चित्र और ही किसी रूप में दृष्टिगोचर होता। सात करोड़ हिन्दुओं के साथ उस समय जिस वीरता के साथ वीरवर पृथ्वीराज ने यवनों के छक्के छुड़ाये थे—आदि विवरण पढ़ने योग्य हैं। अनेक चित्रों सहित मू० १) रु०।

१५–वैदिक वर्ण व्यवस्था

पुराण, शास्त्र स्मृति इतिहास तथा प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर यह पुस्तक बड़ी योग्यता से लिखी गई है। आज तक किसी ने इसके खण्डन का साहस नहीं किया। एक बार पढ़ लेने से वर्ण-व्यवस्था का रहस्य मालूम हो जायगा। मूल्य ॥=)

१६–श्रीकृष्ण चरित्र

यह पुस्तक श्री देशभक्त लाला लाजपतराय की लिखी हुई उर्दू पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है। इसमें भगवान श्रीकृष्ण का जीवन चरित्र बड़ा ही गवेषण पूर्ण लिखा गया है और श्रीकृष्ण पर किये जाने वाले प्रत्येक आक्षेपों का उचित उत्तर सप्रमाण दिया गया है। रंग बिरंगे चित्रों सहित पुस्तक का मूल्य १।) रुपया।

१७–स्त्री-शास्त्र

यदि आप अपनी गृहणी को शिक्षित बनाकर अपने घर को स्वर्गरूप देखना चाहते हों तो इस पुस्तक की एक प्रति मंगाकर अपनी गृहणी को अवश्य दीजिये। क्योंकि इस पुस्तक में गृहस्थी से सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक विषयों का समावेश है। जैसे घर का निरीक्षण, हिसाब-किताब रखने

की रीति, गर्भाधान, सन्तान-जनन और पालन-विधि, बच्चों के रोगों की चिकित्सा, स्त्री-रोग चिकित्सा, भोजन बनाने की सर्वोत्तम विधियाँ, पातिव्रत, रहन-सहन, दिनचर्य्या, पड़ोसियों और सम्बन्धियों के साथ उचित व्यवहार, लज्जा, गम्भीरता, सुन्दरता और यौवन स्थिर रखने के सरल उपाय, 'सफाई पत्र-प्रबोध, गृहस्थी के ११ प्रबन्ध, नववधू को ११ उपदेश, सतीत्व की महिमा, सिलाई और दस्तकारी, संगीत-विद्या, स्त्रियों के उपवास और व्रत. पतिव्रता, और वीर क्षत्राणियों के जीवन-चरित्र, आदि अनेक विषयों का इसमें भंडार है। आज तक इतनी सस्ती और इतने विषयों की पुस्तक नहीं छपी है। इसके खरीद लेने पर फिर इस विषय की किसी भी पुस्तक के खरीदने की आपको आवश्यकता न पड़ेगी। मुख्य विषयों को चित्र द्वारा समझाया गया है। पत्र-पत्रिकाओं ने इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। २५ चित्रों सहित पुस्तक का मूल्य २) रुपया।

१८—स्वास्थ्य और व्यायाम

आजकल स्वास्थ्य और व्यायाम से उदासीन रहने के कारण हमारे देश के नवयुवक जिस अधः-पतन की ओर अग्रसर होते जा रहे हैं वह प्रत्यक्ष

है। इसलिये उचित है कि व्यायाम से शरीर का शक्ति-सम्पन्न और सुन्दर बनाकर सम्मान की रक्षा करें। आज हम विदेशियों के सामने बुजदिल और कमजोर समझे जाते हैं इसका मुख्य कारण है हमारा शारीरिक अधःपतन। जब तक हम अपने को मजबूत और दृढ़ न बना लेंगे हमारा सब जगह अपमान होगा—हम न देश का साथ दे सकते हैं न जाति का अतः इस पुस्तक से मनुष्य मात्र को लाभ उठाना चाहिये। इसमें स्वास्थ्य और व्यायाम पर पूर्ण रूप से प्रकाश डाला गया है। देशी और विदेशी कसरतों को चित्र सहित समझाकर उनके लाभ बतलाये गये हैं और साथ ही साथ देशी विदेशी पहलवानों के चरित्र चित्र सहित दिये गये हैं। ८० चित्रों सहित पुस्तक का मूल्य १॥)